वैदिकसंस्कृति ' विशेषांक
अक्टूबर–नवम्बर १९७०
मूल्य– १.५०

वैदिकधर्म



शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमां आद्यां जगद्व्यापिनीम्
वींणापुस्तकधारिणीं अभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां



वैदिक धर्म

वर्ष ५१ : अंक ९–१० : आश्विन–कार्तिक : २०२७

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
डॉ. श्रुतिशील एम. ए., पीएच्. डी., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.००, विदेशके लिये रु. ८·०० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

ॐ अश्विन–कार्तिक विक्रम संवत् २०२७

वैदिक धर्म

वैदिक प्रार्थना

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥

(ऋ. १।३।१०)

उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह ।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे॥

(श्रीसूक्त–७)



(वाजेभिः वाजिनीवती) अपने सामर्थ्यसे दूसरोंको सामर्थ्ययुक्त बनानेवाली यह (सरस्वती) सरस्वती देवी (नः पावका) हमें पवित्र करनेवाली हो । (धियावसुः) बुद्धिपूर्वक सम्पत्ति देनेवाली वह देवी (यज्ञं वष्टु) हमारे द्वारा किए गए यज्ञकी कामना करनेवाली हो ।

(देवसखः) देवोंका हित करनेवाली लक्ष्मी (मा उपैतु) मेरे पास आवे और मुझे (मणिना सह कीर्तिः) धनके साथ यश प्रदान करे । मैं (अस्मिन् राष्ट्रे) इस राष्ट्रमें (प्रादुर्भूतः अस्मि) उत्तम रीतिसे उन्नत हो गया हूं, इसलिए लक्ष्मी देवी (मे) मुझे (कीर्तिं ऋद्धिं च ददातु) यश और धनादि ऐश्वर्य देवे ।

संपादकीय

आजकी मानवता भौतिकसाधनोंके प्रचुर होनेके बावजूद भी दुःखत्रयके अभिघातसे पीडित है। उसके चारों ओर मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक क्लेश मंडरा रहे हैं और उनकी विभीषिकासे त्रस्त मानवता आज पनाह मांग रही है, पर उसकी पीडा उत्तरोत्तर बढती ही जा रही है। प्रचुर भौतिक सुखसाधनोंसे समन्वित इस युगने कमसे कम इतना तो स्पष्ट कर ही दिया कि इस भौतिकतामें सुख भले ही हो, पर आनन्द तो नहीं ही है। इस बातको आजसे हजारों साल पहले ही महर्षि याज्ञवल्क्यकी पत्नी मैत्रेयीने प्रत्यक्ष कर लिया था।

कथा है कि याज्ञवल्क्य ऋषि संन्यास स्वीकार करनेके लिए तैय्यार हुए, तो उन्होंने अपनी जायदाद अपनी दोनों पत्नियों कात्यायनी और मैत्रेयीमें बांट देनेका विचार किया। उनके विचारको जानकर मैत्रेयीने पूछा– "स्वामिन्! यदि समस्त संसार और उसकी सम्पदा मुझे मिल जाए, तो क्या मुझे अमरत्व प्राप्त हो जाएगा।?" याज्ञवल्क्यका उत्तर था– "नहीं, निश्चय ही नहीं! साधनसम्पन्न व्यक्तियोंका जीवन जिस तरह बीतता है, उसी तरह तेरा भी बीतेगा। परन्तु धनसे मोक्षकी आशा नहीं की जा सकती।" मैत्रेयीने जिज्ञासा की– "हे नाथ! जिस धनसे मैं अमर नहीं हो सकती, उस धनका मैं क्या करूंगी? आप मुझे अमर होनेका उपाय बतायें।"

याज्ञवल्क्यकी यह बात उस समय भी सच थी और आज भी सच है। अमेरिकाका कृष्णभक्ति आन्दोलन इस बातका साक्षी है। हर तरहके भौतिक साधनोंसे सम्पन्न अमेरिकी समाज वहांके लोगोंको शान्ति न दे सका, अतः वहांके लोग अब सबका सन्यास करके कृष्णभक्तिमें शान्ति खोजनेकी कोशिश कर रहे हैं। इस कृष्णभक्ति आन्दोलनके प्रवर्तक श्री ए सी. भक्तिवेदान्त, जो आजकल भारतके दौरे पर आए हुए हैं, सभी देशोंमें इस आन्दोलनको प्रारंभ करना चाहते हैं। यह वस्तुतः आध्यात्मिकताकी ओर भौतिकताकी प्रवृत्ति है अथवा कहूं कि अब पाश्चात्यधर्म वैदिकधर्मकी ओर उन्मुख हो रहा है। लोहा अब काफी गरम हो चुका है, अब उस पर घन चलानेकी आवश्यकता है, घन चलाकर इसे यथेच्छ आकृतिमें बदला जा सकता है। अब आवश्यकता है स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे सच्चे राजदूतोंकी, कि जो अमेरिकामें जाकर अपने उपदेशोंसे इस आध्यात्मिक आन्दोलनमें आज्याहुति देकर उसे और अधिक प्रज्वलित कर सकें।

आज यह सिद्ध हो चुका है कि मानवताको शान्तिप्रदान करनेमें ईसा और मुहम्मद दोनों असफल रहे हैं, क्योंकि मुहम्मद तलवारके जोर पर अपना धर्मप्रचार करना चाहते हैं, तो ईसा धनके बल पर। लिहाजा उनके इस प्रचारकार्यसे लोगोंका बाह्य आवरणमात्र बदल पा रहा है और आन्तरिक भाग उसी तरह अशान्त है। आजके मानवोंके अशान्तमनको तो वही धर्म शान्ति दे सकता है, जो उनके अन्दर गहराई तक उतर जाए, और यह काम सिर्फ वैदिकसंस्कृति ही कर सकती है। इसलिए वैदिकसंस्कृतिकी आवश्यकता आज भी न्यूनाधिक बनी हुई है और आगे भी बनी ही रहेगी।

इसी दृष्टिसे "वैदिकधर्म" के इस अंकको "वैदिक-संस्कृति" के विशेषांकके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। इसमें अनेक अधिकारी विद्वानोंके लेख हैं, जो वैदिकसंस्कृतिके भिन्न भिन्न अंगोंपर प्रकाश डालते हैं। इस विशेषांकके लिए आशासे अधिक लेख प्राप्त हो गए, पर स्थानाभावके कारण वे सभी लेख नहीं लिए जा सके, जिनके लेखोंको हम इस अंकमें स्थान नहीं दे सके, उन लेखकोंसे हम क्षमाप्रार्थी हैं। उनके लेखोंका हम आगेके किसी अंकमें उपयोग कर सकेंगे।



मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ॥

लक्ष्मीपूजन एवं दीपावलीके शुभपर्व
पर सभीकी सुखसमृद्धिके लिए
"वैदिकधर्म" की ओरसे

हार्दिक शुभकामना



वैदिकसंस्कृतिके अग्रदूत

महर्षि दयानन्द सरस्वती

▲

दीपावलिका पर्व जहां अत्यन्त उत्साह एवं रोशनीका पर्व है, वहां यह एक वियोगका भी पर्व है। इस दिन जब चारों ओर पार्थिव ज्योतियां जगमगा रही थीं, तब एक आध्यात्मिक ज्योति बुझ गई थी। वह आध्यात्मिक ज्योति थी 'महर्षि दयानन्द सरस्वती'।

महर्षिका जन्म एक ऐसे कालमें हुआ था कि जब भारत पर गौरांग प्रभुओंका शासन था, सभी राजा महाराजा उन प्रभुओंके चरणसेवक बने हुए थे। सारा भारतीय समाज गौरांगीय सभ्यतामें सराबोर था। ऐसे समयमें भारतीयता एवं वैदिकसंस्कृतिका शंख फूंककर सभी भारतीयोंको चैतन्य बना दिया। सभी भारतीयोंको बताया– 'अपनोंका राज्य भले ही बुरा हो, पर वह भी सुखसमृद्धिसे परिपूर्ण विदेशियोंके राज्यसे लाख बेहतर है।' महर्षिका यह कथन कृष्णके स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः मंत्रकी सीधी और सरल शब्दोंमें व्याख्या ही थी। उन्होंने घूम घूम कर तत्कालीन भारतीय समाजका सूक्ष्म अध्ययन किया। इससे उन्हें एक ही बात ज्ञात हुई कि भारतीयोंकी इस घोर अवनतिका कारण है– 'वेदोंकी अवहेलना एव वैदिकसंस्कृति एव सभ्यताका विस्मरण।' उन्होंने भारतीयोंको सजग किया कि गोकि वैदिकऋषि भी अहिंसाके पुजारी थे, या कहें कि अहिंसाके सिद्धान्तका आविष्कार उन वैदिकऋषियोंने ही किया था, पर उनकी अहिंसा अस्थान एव अन्धअहिंसा नहीं थी। अहिंसाकी उन्होंने व्याख्या की कि किसी निरपराध जीवको मारना या सताना हिंसा है, और उसका निषेध अहिंसा है। पर यदि कोई शत्रु राष्ट्रपर आक्रमण कर दे, या कोई आततायी तुमपर हमला करनेके लिए आ रहा हो तो क्या करोगे? वेदकी आज्ञा है—

तं त्वा सीसेन विध्यामः (अथर्व०)

'क्षणभरकी भी देर न लगाकर उसे उडा दें।' इतना ही नहीं, अपितु—

स्थिराः व सन्त्वायुधाः पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥

हे वीरो! तुम्हारे शस्त्र स्थिर एव दृढ हों तुम्हारी सेना प्रशंसाके योग्य हो, पर जो दुष्ट और मायावी हों उनकी सेना तथा शस्त्रास्त्र निर्बल रहें।

इस प्रकारके ओजस्वी विचारोंसे पूर्ण वैदिकसन्देशोंको भूल जानेके कारण ही भारतीयोंकी यह अवनति हुई, यह बात त्रिकालदर्शी ऋषि दयानन्दके ज्ञानचक्षुओंने देख ली थी। इसीलिए उन्होंने सर्वत्र वैदिकसंस्कृति एवं सभ्यताका प्रचार एव प्रसार किया। कई लोगोंका यह भी मत है कि उन्होंने ब्रिटिशशासनके विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति भी की। यह वह समय था कि जब बंगालमें सन्यासियोंका एक बड़ा भारी संघटन शस्त्रास्त्रोंके जरिए ब्रिटिश शासनके उन्मूलनमें लगा हुआ था। बंगालके इस संघटनकी टुकड़ियां भारतमें यत्र तत्र सर्वत्र फैली हुई थीं। वही एक टुकडी वीरभूमि राजस्थानमें भी कार्य कर रही थी, विचारकोंका ख्याल है कि इस टुकडीका नेतृत्व महर्षि दयानन्दके हाथोंमें था। सचाई कुछ भी हो, बहरहाल यह तो निश्चित है कि महर्षि येन केन प्रकारेण भारतसे विदेशी शासनको खदेड़कर यहां स्वदेशी शासन स्थापित करके वेदोंकी पुन प्रतिष्ठा करना चाहते थे। उनकी यह पूर्ण श्रद्धा थी कि वैदिकपथका अनुगामी बनकर भारत फिर अपने प्राचीन महत्त्वको प्राप्त रह सकता है। उनकी यह श्रद्धा स्वयमें एक सचाई है। इस श्रद्धासे प्रेरित होकर महर्षिने अन्त तक अपने वैदिक-मिशनका प्रचार किया।

सारा जीवन वेदोंका प्रचार करते हुए वे एक राजवेश्याके कुटिल षड्यंत्रका शिकार हुए और ठीक दीपावलीके दिन उनका पार्थिव देह पंचतत्त्वमें विलीन हो गया।

महर्षिके भारतपर एव भारतीयों पर जो ऋण हैं, वे अपरिमित हैं, उनसे उऋण हम तभी हो सकते हैं, जब हम स्वयंको भी उस सांचेमें ढाल दें तथा हम भी उनकी मिशनके पूरक बन जाएं।

× × ×



डॉ. पं. श्री. दा. सातवलेकर, डी. लिट्.

वै दि क सं स्कृ ति का स्व रू प

☆

" वैदिकसंस्कृतिका " अर्थ है " भारतीयसंस्कृति "। आर्योंका तथा भारतका सम्बन्ध होने पर " कृण्वन्तो विश्वमार्यं " इस आदर्शवाक्यके अनुरूप उच्च-नीच, अपना-पराया आदि भावोंको दूर करके सब जगत्को आत्मसात् करनेकी जो आर्योंकी वृत्ति थी, वही " वैदिक-सस्कृति " या " भारतीयसस्कृति " है। संस्कृतिका अर्थ है, सं-एक होकर कृति-किया गया कार्य। इस वैदिकसस्कृति की वर्तमान स्थिति; प्राचीन स्थिति, युगों युगोंसे उसमें होनेवाले परिवर्तन इन सबका यदि विहगावलोकन किया जाए तो हम प्रारभमें कौन और कैसे थे ? हमारे ध्येय और आदर्श क्या थे ? आज हमारी स्थिति कैसी हो गई है ? ऐसी स्थिति हमारी कैसे और क्यों हुई ? इन सब प्रश्नों पर प्रकाश पड सकता है। इससे हमारे पुनरुत्थानका मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है। अतः हम प्रथम देखेंगे कि " वैदिक विचार सरणी " कैसी थी।

इस सेरणीके अनुसार वैदिक ऋषियोंकी यह भावना थी कि परमेश्वर विश्वरूप है और उस ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार उन वैदिक ऋषियोंके समक्ष था। " पुरुष एवेदं सर्वं " इस सत्यकी अनुभूति ऋषियोंको प्राप्त हो चुकी थी। ईश्वरका रूप सत्-चित्-आनंदका है और यह मनुष्य उसी विश्वरूपकी एक नन्ही मुन्नी आवृत्ति है। विश्वरूप सत्य और पूर्ण है। यह विश्वरूप सेवनीय माना जाता था और उसकी सेवा यज्ञद्वारा होती थी। चातुर्वर्ण्यके लोग अपने अपने वर्णके अनुरूप उसकी सेवा करके सिद्धि प्राप्त करते थे। ऐसे ईश्वरी देहमें मनुष्य जन्म प्राप्त करता है। वह वस्तुतः ईश्वरका एक अंश ही होता है। इस देहमें मनुष्यको उत्पन्न करनेवाली स्त्री एक बडी शक्ति ही है। उसकी योग्यता अत्यधिक होनेके कारण उसके बिना कोई भी यज्ञ नहीं होता। वैदिकधर्मानुयायियोंकी यह भावना है कि शरीर देवताओंका मंदिर है, उसके विविध भागोंमें विविध देवताओंका अधिष्ठान है। इसलिए तदनुसार रोज देवपूजाके आरंभमें उन उन देवोंको उन उन ठिकानों पर स्थापित किया जाता है। जीव ईश्वरका अमृतपुत्र होनेसे जन्म लेते समय ईश्वरकी ३३ शक्तियां अपने साथ लेकर आता है। इस पृथ्वीको ही स्वर्ग बनाना है और यहां जीवित अवस्थामें ही अपनी अनन्त शक्तियोंका अनुभव लेना होता है। इसप्रकारकी थी तत्वप्रणाली वैदिककालीन तरुणोंकी। उनका यही साध्य था कि वे तदनुसार चतुर्विध पुरुषार्थ करके अभ्युदय और निःश्रेयसको सिद्ध करनेके लिए अनुशासनशील मनुष्योंका निर्माण करें। इस साध्यको

सिद्ध करनेके लिए मनुष्योंका दैनंदिन जीवन नियमबद्ध किया जाता था। यह क्रम चालू होनेके कारण यह आर्यजाति सामर्थ्यसंपन्न, ऐश्वर्ययुक्त और वैभवसम्पन्न होकर उसने समुद्रवलयांकित पृथ्वीके एक सम्राट्की घोषणा की थी। पर आगे जाकर सिद्धान्त ही बिल्कुल बदल गए। लोग इस विश्वकी तरफ हीनदृष्टिसे देखने लगे। वे इस विश्वको असार और दुःखमय मानने लगे। इसप्रकार जिस अन्तिम सुखकी प्राप्तिके लिए ऋषियोंने यम-नियमादिसे नियंत्रित विचार प्रदान किये थे, वे विचार आगे जाकर सर्वथा नष्ट हो गए और लोग इस विश्वकी तरफ हीनदृष्टिसे देखने लगे। लोगोंको नियमबद्धता अप्रिय हो गई, क्योंकि बन्धन सदा अप्रिय ही होता है। नियमबद्धता भविष्यकालीन परिणाममें अमृतोपम होने पर भी वर्तमानमें कष्टदायक थी, अतः वह लोगोंके लिए उपेक्षणीय हो गई। इस विचार-प्रणालीके स्थूल आकर्षणमें फंसनेके कारण समाज विशृंखलित हो गया। उसका परिणाम जो होना था, वही हुआ। उस समय अन्नपानकी कमी नहीं थी। सभी भारतीय सतत नियमबद्ध व अनुशासनपूर्ण होनेके कारण आत्मतेजसे युक्त, शारीरिक सामर्थ्यसे सम्पन्न तथा स्वसंरक्षणके लिए सदा तैय्यार रहते थे, इसलिए बाहरी शत्रुओंके आक्रमण तो क्या उनकी तरफसे उडकर आनेवाली हवा भी भारत-प्रदेशसे घबराती थी। आर्योंके हमेशा कमर कसकर डटे रहने के कारण इस देशकी ओर नजर फिराने तकका सामर्थ्य शत्रुओंमें नहीं था। पर जब नियमबद्धता एवं अनुशासनमें शिथिलता आगई, तो लोग अनुशासनरहित और आलसी हो गए। सभी मनीषियोंके द्वारा आवृत होने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था नष्ट हो गई। ब्राह्मणोंने तप और अध्ययन छोड दिया। क्षत्रियोंने शस्त्र त्याग दिए। वैश्य अपने व्यापार-व्यवसाय रूप कर्मसे विरक्त हो गए। उसीतरह शूद्रोंने भी अपने सेवारूप कर्मको तिलांजलि दे दी।

आज स्थिति ऐसी है कि आर्योंका संघ नाममात्र हो गया है, उस संघ शक्तिके अभावमें उत्पन्न हुए असहायता तथा शिथिलताके भाव दिन-ब-दिन राष्ट्रको अधःस्थितिकी ओर खींच रहे हैं। एक समय जिस भूप्रदेश पर आर्योंका एकछत्र राज्य था, वही भूप्रदेश यवनोंके बारबार होनेवाले आक्रमणके कारण सब कुछ यवनमय हो गया। अब स्थिति ऐसी हो गई है कि यदि कोई कहे कि किसी समय भारतमें आर्योंका साम्राज्य था, तो शायद ही कोई विश्वास करे। आधुनिक कालमें तथा बीते हुए दशकमें हुई क्रान्तिका विचार करने पर वैदिकसंस्कृतिके भवितव्यताकी भयानक कल्पना मनमें उदय होकर चित्त अस्थिर हो जाता है।

मध्यकालमें निरुपयोगी मानकर उपेक्षित हुआ वैदिक वाङ्मयका भाग आज सर्वमान्य बन गया है। उपनिषत्कर्ता ऋषियोंने उपनिषदोंमें ब्रह्मसिद्धान्तका सांगोपांग वर्णन करके ब्रह्मविद्याका स्वरूप स्पष्ट व परिपूर्ण किया है। वैदिकसंस्कृतिके प्राचीन इतिहास परसे ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है कि ब्रह्मविद्याके कारण ही वैदिकधर्म तेजस्वी होकर सारे संसारका मार्गदर्शक बना। इस ब्रह्मविद्याके दो अंग हैं- (१) परा और (२) अपरा। जिसमें केवल ब्रह्मतत्त्वका ही विवेचन है, वह पराविद्या है, तथा जिसमें स्थूल एवं सूक्ष्मसृष्टिका विवेचन है, वह अपराविद्या है। इन दोनों विद्याओंको आजके शब्दोंमें आध्यात्मिक व आधिभौतिककी संज्ञा प्रदान की जा सकती है। केनोपनिषद् (२।१) में ऐसा स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया है कि केवल पिण्डका अथवा शरीरका विचार करके ब्रह्मतत्त्वको पूर्णतया समझना असम्भव है। पिण्डके साथ साथ ब्रह्माण्ड अर्थात् सृष्टिका विचार भी आवश्यक ही है। इन्द्रिय और आत्माका सम्बन्ध अच्छी तरह समझ लेनेसे चिदंशकी कल्पना की जा सकती है। परन्तु इतनेसे ही ज्ञानको पूर्णब्रह्मज्ञान समझना गलत होगा। अर्वाचीन वेदांत ग्रंथोंमें मुख्यतः शरीर और आत्मा इन दो विषयोंको महत्त्व दिया जाता है। यद्यपि पिंड और ब्रह्माण्डका पारस्परिक सम्बन्ध है, तो भी सृष्टिका कोई विचार नहीं करता। ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करनेकी आधुनिक प्रणाली एकांगी होनेके कारण निरुपयोगी है। पिंड और ब्रह्मांडके निरीक्षणसे ब्रह्मतत्त्वका अभ्यास करना चाहिए, इसी कारण आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टिसे इसका विचार करना चाहिए, यह केनोपनिषद्के वचनोंसे स्पष्ट है। केनोपनिषद्के जिस वचनमें भौतिकसृष्टिका विवेकपूर्वक बारबार निरीक्षण करनेका निर्देश है, वह वचन निम्न है -

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

इसप्रकार सृष्टिका अभ्यास ब्रह्मविद्याके अभ्यासके लिए अत्यन्त आवश्यक है यह बात उपनिषदोंको भी पूर्णरूपसे

मान्य है। केनोपनिषद्के चौथे खण्डमें स्पष्ट लिखा है कि विद्युत् शक्तिके समान आधिदैविक तत्त्व व अन्तःकरणके समान आधिभौतिक तत्त्व ब्रह्मतत्त्वको जाननेके चिन्ह हे। दस उपनिषदोंमें ईशोपनिषद् सब उपनिषदोंका मूल समझा जाता है। इसलिए इसमें प्रतिपादित सभी सिद्धान्त ब्रह्मविद्याके मूल सिद्धान्त समझे जाते हैं। इस उपनिषद्में ब्रह्मज्ञानको जाननेके लिए विज्ञान शास्त्रोंकी अत्यन्त आवश्यकता होनेकी बात स्पष्ट रूपसे कही गई है। इसी सिद्धान्तकी व्याख्या उपनिषद् वाङ्मयमें अनेक बार किया गया दिखाई देता है। इसके अलावा पुराणोमें भी विज्ञानशास्त्रका महत्त्व वर्णित है। महाभारत कालतक आर्यावर्त वैभवशाली स्थितिमें था। उस महायुद्धमें जो कि बहुत तादादमें मनुष्योंका संहार हुआ, तो भी उसका असर इतना अधिक हुआ कि इस भारत पर तिरछी नजर डालनेकी भी किसीकी छाती नहीं हुई। इसका कारण यही है कि उस समय तक भारतीय विज्ञानशास्त्रसे संन्यास नहीं लिए थे। आगे जाकर भारतसे अन्य देशोंमें भारतीयोंका आवागमन कम होता गया और भारतसे प्रेरणा पाये हुए देशोंमें विज्ञान किसतरह फल-फूल रहा है, इसकी तरफ भारतकी नजर न गई और वह केवल शुष्क ब्रह्मज्ञानमें गर्क रहा, लिहाजा उसकी स्थिति उच्च कोटिसे अधःकोटि पर पहुंच गई।

इस ईश्वरीय सृष्टिमें विविध योनियोंके मध्य मनुष्ययोनि श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। इस विषयमें दृष्टानुभव, अदृष्टानुमान तथा शब्दप्रमाण सबकी एकवाक्यता है। इतर प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यकी श्रेष्ठता उसकी बुद्धि, विवेक तथा सदसद्विचारकी शक्तिके कारण ही है। वैदिकसंस्कृतिके तत्त्वोंके आधार पर विचार किए जाने पर मनुष्यकी श्रेष्ठता उसके सनातनत्वके तथा विश्वव्यापी दृष्टिके कारण सिद्ध होती है। 'धारणाद्धर्म इत्याहुः' इस तत्त्वके आधार पर सारी मानवजाति एकरूप हो, सबको चिरन्तन समान सुख और शान्तिका लाभ हो, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यं' की घोषणाकी फलप्राप्ति हो ऐसी भूमिका जिस धर्मकी है, वैसा धर्म केवल वैदिकधर्म ही है। इस धर्मका मूल वेद अर्थात् ज्ञान है। समष्टिरूपसे वेद एक ही था, पर उसमें विविध प्रकारके ज्ञानोंके होनेके कारण वे अनन्त हैं। उनका मूलतत्त्व है इहलौकिक और पारलौकिक सुखशान्तिकी योजना और उनका विषय है उस योजनाको कार्यान्वित करनेके मार्गका प्रतिपादन। सम्पूर्ण मानवजातिका सुख ही जिसका अभीष्ट है, ऐसे इन वेदोंका अनन्तत्व नष्ट होकर बहुसंख्यकोंकी स्मृतिशक्ति भी क्षीण होती जा रही है, यह देखकर वेदव्यासने उस ज्ञानसमूहको फिरसे व्यवस्था लगाकर उसे चिरस्थायी रूप दिया। इसी कारण उनकी संज्ञा वेदव्यास हुई। (विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्मात् व्यास इति स्मृतः -महाभा. आदि ६४।१३०)

इस योजनामें एक वेदके ऋक्, यजु, साम और अथर्व रूपसे चार विभाग हो गए। उनकी संहिता मूलमंत्र, ब्राह्मण-उनका प्रयोजन और विनियोजन तथा आरण्यक – अरण्य अर्थात् एकांतमें चिंतनका विषय इस प्रकार तीन भाग हो गए। इस समूहमें अन्तर्भूत हुए विषयोंको 'ज्ञान – विज्ञान या 'परा–अपरा' की संज्ञा प्राप्त हुई। इन दोनोंके यथार्थ ज्ञान तथा तदनुरूप आचरण होने पर ऐहिक और आमुष्मिक सुखकी प्राप्ति होती है। 'अमृता भवन्ति' (केनोपनिषद्) का प्रत्यक्ष अनुभव बहुत पुरातनकालसे अविच्छिन्न रीतिसे होता रहा है। परन्तु दो – ढाई हजार वर्षोंसे उनमें निहित तत्त्वों तथा उनके आचरणमें भेद होनेके कारण किसी भी सुखकी प्राप्ति नहीं हो पा रही। साधारण लोगोंकी बात छोड दी जाए, पर जो वैदिक थे, वे भी अर्थरहित मंत्रोंका शुकपाठ करके 'भारहाराः' ही बने रहे। जिसमें इन चारों वेदोंका सम्मेलन होता था, वह यज्ञसंस्था ही मृतप्रायः हो गई। इतना ही नहीं, इन वेदोंके नाम पर उनके अनुयायियोंने झगडे भी खडे कर दिए। निराशामय भावोंके कारण आर्योंकी विजिगीषा तो समाप्त ही हो गई पर जिजीविषा भी संकटमें पड गई। जो आर्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यं' के उद्घोषक थे, उन्हींके वंशजोंको समुद्रपारगमनके कारण प्रायश्चित्त लेने पर बाध्य होना पडा।

इसप्रकार एक समय जहां ज्ञान–विज्ञान या परा–अपराका समतोलनिक अभ्यास होता था, वहां उत्तरकालमें विज्ञानकी अवहेलना करके ज्ञानपर ही सारी शक्ति खर्च कर दी गई, लिहाजा विज्ञानका उत्पत्तिस्थान जो भारत वहींसे विज्ञान उखड गया। इसप्रकार मूलधर्म व धर्मतत्त्वका स्थान ही डगमगा जानेसे राष्ट्रकी स्थिति विस्खलित हो गई, इस कारण ईसाई और मुसलमानोंकी बन आई और आज हमारी यह दीन दशा हो गई। हमारे पुनरुद्धारका एकमेव मार्ग है "वैदिकसंस्कृतिका उद्धार"। वैदिकसंस्कृतिका संदेश और आदेश है—

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।

× × ×



आचार्य मुंशीराम शर्मा, पीएच् डी., डी. लिट्

वैदिकसंस्कृति और सदाचार

卐

[सतां आचारकी गणना भगवान् मनुने धर्मके चतुर्विध लक्षणमें की है। वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपनी आत्माकी भलाई करके अपनी आत्मशक्तिको बढाना ये चार धर्मप्रासादके चार स्तंभ हैं। इस कथनसे भगवान् मनुने सदाचारको अत्यन्त महत्वपूर्ण बना दिया है। सदाचार ही मनुष्यको चरित्रवान् बनाता है और चरित्रवान् मनुष्य ही देवत्वप्राप्तिकी ओर अग्रसर होता है। जब मनुष्य विभ्रममें फंसता है तब उसके लिए "महाजनो येन गतः स पन्था" ही मार्गदर्शक होता है। यह महाजनका पन्थ ही सदाचार है। इस सदाचारके विषयमें वेदोंमें अनेक मंत्र समर्पित हैं। उन मन्त्रोंमें भगवान्ने सदाचारकी जो महिमा गाई है, उसका गान लेखकने अपने इस लेखमें किया है।]

卐

वैदिकसंस्कृति सदाचारको जितना महत्त्व प्रदान करती है, उतना अन्य उपादानोंको नहीं। आप चाहे अद्वैत को मानिये और चाहे द्वैत को, यदि आप सदाचारी नहीं हैं, तो आपका अद्वैत या द्वैत को मानना निरर्थक है, बालूमेंसे तेल निकालनेके समान है। यदि आप सदाचारी हैं, तो ईश्वरमें विश्वास या अविश्वासका प्रश्न उठेगा ही नहीं। वेदके शब्दोंमें 'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः'— दुराचारी ऋतके पन्थको पार कर ही नहीं सकता। सदाचारी व्यक्ति ही ऋतपथका अनुगामी है और जो ऋतपथ पर चल रहा है, वह एक दिन उसे पार कर ही जायगा और प्रभुको प्राप्त कर ही लेगा, क्योंकि 'ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्ति'— ऋतके आदेश, सदाचारके संकेत प्रभुका संवर्धन करनेवाले हैं। 'स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः' स्वर्ग या ज्योति की ओर ले जाने वाला देवयान–पथ सुकृती, सदाचारी व्यक्ति हीके भाग्यकी वस्तु है। इसप्रकार सदाचारी, सत्पथका पथिक जाने या अनजाने उस परमगति, परमतत्त्वकी ओर अपने आप चला जा रहा है।

वेदमें प्रार्थना आती है—

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व आमा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषा उदस्थाम् अमृताँ२ अनु॥

(यजु ४-२८)

सर्वाग्रणी देव ! आप सबके नियन्ता हैं। मुझे दुश्चरितसे पृथक् करो और सब ओरसे सदाचारका भागी बनाओ। मैं अमरदेवोंका अनुकरण करूं तथा आयु तथा शोभन जीवन लेकर ऊपर उठ जाऊं।

सदाचार ही उठाता है। दुराचार तो गिराने वाला है, आयुको क्षीण करने वाला है, रोगोंका अड्डा बनाने वाला है, सदाचारसे ही नीरोगता प्राप्त होती है, आयु बढती है और प्राणी ऊपर उठता है। मानव यहां ऊंचा उठनेके लिये आया है, गिरनेके लिये नहीं। अत जो गिराता है, उसे हमें गिरा देना चाहिये और जो उठाता है, उसे अपना लेना चाहिये। इसीमें कल्याण है।

वेद सदाचारके लिये मनको शिव- संकल्पमय बनानेकी आज्ञा देता है। 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'—

मनमें शिवसंकल्प उठेंगे, तो वे आचरणमें भी फलीभूत होंगे। यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति -का सिद्धान्त सर्वांशतः सत्य है। इस मनको सामग्री प्राप्त होती है ज्ञानेन्द्रियोंसे। अतः वेद कहता है— भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। हम कानोंसे भद्र शब्दोंको सुनें और आखोंसे भद्रकाही दर्शन करे। शिवसंकल्पी मन आंखोंसे भद्रका दर्शन करेगा और भद्रदर्शी ही शिवसकल्पी बनेगा। दोनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो बात आंख और कानके सम्बन्धमें कही जाती है, वही अन्य ज्ञानेन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी कहा जा सकती है। इस प्रकारका शिवसंकल्पी मन भद्रदर्शी और भद्रश्रोत्रियके साथ भद्र आचरण ही करेगा। उसके अग स्थिर होंगे, शरीर देवो द्वारा स्थापित पूर्ण आयुको प्राप्त करेगा और वह भद्रका आलसी बनेगा।

स्वस्ति पथ सदाचारका पंथ है। यह दानी, अहिंसक और ज्ञानियोंका पथ है। हमे सदाचारकी शिक्षाके लिये इन्हींके सत्सगमें रहना चाहिये। अग्ने नय सुपथा- प्रभु, हमें इसी सुपथसे ले चले। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः— कुटिलताके पाप-पथसे हमें दूर रखे। सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये– सुपथको प्रभु हमारे लिये सुगम कर दें जिससे हम कल्याणके भाजन बन सकें। यदि ' न नः पश्चादघं नशत् '- पाप हमारे पीछे न पडा, तो ' भद्रं भवति नः पुरः ' भद्र निश्चित रूपसे हमारे सामने आ जायेगा। हम प्रतिदिन प्रभुसे प्रार्थना करते है :- ' विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आ सुव – प्रभो ' हमारे दुरित, दुराचार दूर हों और जो भद्र है, मंगलमय या कल्याणकारी है, वही हमें प्राप्त हों। दुरित, दुराचार या कुत्सित आचरण हमारे विनाशका कारण है। सदाचार हमें प्रतिष्ठित करता है, जीवन देता है। ' स न पूषाऽविता भुवत् '- सदाचार हमें पोषण देता है और हमारी रक्षा करता है।

सदाचारमें सत् है। श्रद्धामें श्रत् है। सत् और श्रत् एक ही हैं। यही धारण करनेवाले धर्म हैं। ऐसे धर्मोंका अध्यक्ष अध्यक्षं धर्माणाम्–अग्नि है, सर्वाग्रणी परमेश्वर है। वही सत् और श्रतका निधान है। उसीको प्राप्ति धर्मकी प्राप्ति है, सत् और श्रतको उपलब्धि है। इसप्रकार परमेश्वर, ·· त्य और धर्म एक ही है।

' शिशूला न क्रीळयः सुमातरो ' माताओंके आगे जैसे शिशु क्रीडा करते हैं, वैसे ही हमें भी प्रभुके आगे शिशुकी भांति क्रीडा करनी चाहिये। शिशु निरीह और निष्पाप होता है। वह दुराचारका नाम भी नहीं जानता। सदाचार सहज रूपसे उसके अन्दर निवास करता है। यदि हम भी शैशव-वृत्ति धारण कर लें, बडे होकर भी शिशुकी भांति निष्कपट व्यवहार करें, तो हम प्रभुके सान्निध्य या सामीप्यमें रहेंगे, सत् हमारा साथी बनेगा, भद्र हमारे पार्श्वमें बसेगा और आनन्द राम-रोममें रमेगा। सदाचार रूपी वृक्ष पर आनन्दका ही फल लगता है।

सदाचार पथके पथिकको कभी प्रमादमें नहीं पडना है और न व्यर्थके बकवादमें भाग लेना है। मा नः निद्रा ईशत मोत जल्पि— निद्रा या जल्पना कोई भी हमारे ऊपर शासन न कर सके। इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। — क्योंकि जो निद्रालु है, सोता है, देव उसकी कामना नहीं करते, दिव्यगुण या सदाचार उससे कोसो दूर भाग जाते हैं। देव तो उसीसे प्रेम करते हैं जो सदा चारी है, संवननशील है, याग–त्याग–परायण है। सदाचार के क्षेत्रमें इसीलिये कोई छुट्टी नहीं है, अवकाशका दिन नहीं है– There is no holiday in moral life. इसमें एक दिन क्या एक क्षणके लिये भी छुट्टी मनाना, सदाचारसे पृथक् होना है, वर्षोंकी कमाई पर पानी फेर देना है। एक पलका भी प्रमाद न जाने कब तक खला करता है।

ऊर्ध्वो न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे – हम अपने जीवनमें, अपने आचरणमें ऊंचे ही उठते रहें। हमारा वर्तमान जीवन और उसकी कार्यप्रणाली एक लम्बी शृंखला की कडीमात्र है। न जानें कबसे प्रयत्न करते करते हम वर्तमान अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। कितनी ठोकरें खाई होंगी, कितने नीचे गिरे होंगे और फिर उठनेमें कितना प्रयास किया होगा। यदि विगतकी यह स्मृति जाग उठे, तो हम प्राप्त क्षणोंको अपने हाथसे कभी न जाने दें। ऊँची चढाई कष्टसाध्य तो होती है, पर जब ऊपर चढकर आनन्दका आस्वाद लेते हैं, उन्मुक्त वातावरणमें साँस लेते हैं, तब फैले हुए कष्ट फिर कष्ट नहीं रहते, आनन्दावसायी परिणतिमें डूबकर समस्त आयास समाप्त हो जाते हैं। अशिव और अमीव पीछे छूट जाते हैं। शिव और स्वास्थ्य समक्ष ही नवल लास्य नर्तन करने लगते हैं। जो वैषम्य पल पलमें काटनेको दौडता था, वह

स्वयं कट जाता है और उसके स्थानपर शोभित हो जाता है सामरस्य, जो सर्वोच्च कोटिको उपलब्धि है।

ऊर्ध्व स्थितिमें पर्वतीय उतार-चढ़ाव भी दिखाई नहीं देते। एक सुन्दर समतल प्रदेश-आँगनके समान दृष्टिगोचर होने लगता है। अञ्जा इन्द्रस्य गिरयश्चिद्ऋष्वा- मुक्त जीवके लिए उच्च, विशाल, पार्वत्य तुगशृग अजिर तुल्य हैं और गम्भीरे चिद् भवति गाधमस्मै - गहरेसे गहरे, निराशाजनक स्थलोंमें भी उसके लिए आशाजनक पोत विद्यमान हैं।

ऊपर हमने ऋतको सदाचार कहा है। अंग्रेजीमें ऋतका स्थानीय Right है। वेदमें ऋत और सत्यका युग्म है। ऋतका सम्बन्ध चर और चित्तसे है, सत्यका सम्बन्ध अचर तथा अचित्तसे है। इस आधार पर सत्य वे नियम हैं जो विश्वकी सत्तात्मक (Static) स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं और ऋत वे नियम हैं जो उसकी गत्यात्मक तथा क्रियात्मक स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं। यही दो नियम विश्वभरकी, चराचर, जड़-जगम अथवा चिति-अचिति, स्थितियोंका नियन्त्रण करते हैं। एमॅनुएल काण्ट कहा करता था—
Two things fill my mind with reverence- The starry heavens above and the moral law within.

तारों भरे आकाशसे उसका लक्ष्य ब्रह्माण्डीय नियमोंकी ओर था जिन्हें हमने सत्य कहा है। मोरल लॉज, सदाचारके नियमोंको हम सत्य न कहकर ऋत कहेंगे। वैदिकसंस्कृतिमें ऋत या सदाचारका नियम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संस्कृति-रूपी भवन इसीकी नींवपर खड़ा होता है। वेदमें ऋतकी प्रशंसा अनेक मन्त्रोंमें की गई है। ऋतकी जड़ें बड़ी गहरी हैं। द्यौ-पुत्र ऋतके ही प्रशंसक हैं, आंगिरस, प्राण-प्रधान व्यक्ति ऋतके द्वारा ही विप्रपदको प्राप्त करते हैं। विप्रकी वाणी ऋतसे ओत-प्रोत रहती है। देव ऋतसे सपन्न, ऋत-जात तथा ऋतके बढ़ानेवाले होते हैं। ऋत द्वारा ही वे मानवको पापसे छुड़ाते हैं। वे स्वय ऋतसे शुभ्र या चमकीले बनते हैं। ऋतको प्रथमजा-प्रज्ञाका आश्रय लेकर वे सर्वज्ञ बन जाते हैं। देवोंमें वही देव पवित्र, सामर्थ्यवान् तथा यज्ञिय बनते हैं जो ऋतसे अपनेको संयुक्त करते हैं। सदाचार ऋतके इसी नियम पर आधारित हैं। वैदिकसंस्कृति की आधारशिला भी यही है। ऋत या सदाचारसे विहीन मानवको संस्कृतमानव किसीने कहीं भी नहीं कहा। हमें संस्कृत बनना है, तो सदाचारको जीवनमें प्रमुख स्थान देना ही पड़ेगा।

पचास वर्ष हुए यह सोचा गया था कि विज्ञानकी बढ़ती हुई उन्नतिसे नयेनय स्वर्गोंकी सृष्टि होगी और मनुष्यको अपने रोगोंके शमनके लिए अमोघ औषधि मिल जाएगी। परन्तु सघर्ष और अशान्तिकी पिछली कुछ शताब्दियोंने असंदिग्ध रूपमें सिद्ध कर दिया है कि हम गलती पर थे। हमने अपने सच्चे मोतियोंको फेंककर उसके बदलेमें झूठे मोती ले लिए। हम न केवल अपनी भूरी भेड़ोंको सफेद ही बना सके अपितु हमारी सफेद भेडे ही काली बन गई। मनुष्यने देव बननेका यत्न किया परन्तु बन गया दानव।



डॉ अनंत गणेश जावडेकर, पीएच् डी , डी. लिट्

गीता – एक धर्मशास्त्र

☆

(वैदिक–साहित्यमें गीताका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रंथ वैदिकसस्कृतिका परिपोषक है। ज्ञान-कर्म भक्तिकी आधारशिला पर खडी हुई वैदिकसंस्कृति गीतामें प्रतिपादित ज्ञान-कर्म-भक्तिके समन्वयके सिद्धान्तसे परिपुष्ट ही होती है। वैदिकसंस्कृतिके स्वरूपको निश्चित करनेवाले ग्रंथोंमें इसीकारण वेद और उपनिषदोंके बाद गीताको स्थान दिया जाता है। आजतक गीताको ज्ञान-कर्म और भक्तिका ही ग्रंथ माना जाता है, पर इस लेखमें विद्वान् लेखकने गीतामें धर्मका भी एक मुख्य स्थान निश्चित किया है। गीताके इस चौथे पर नवीन दृष्टिकोणका प्रतिपादन विद्वानोके लिए मननीय एवं आकर्षक सिद्ध हो सकता है।)

☆

धर्मसंस्थापनाके लिए गीता

गीताका उपदेश अर्जुनको भगवान्ने कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोगके लिए न देकर धर्मसंस्थापनाके लिए ही दिया था। ज्ञान-कर्म और भक्तिको सदा धर्मका ही अनुसरण करना पडता है। इन तीनोंमेसे कोई भी धर्म–निरपेक्षको अवस्थामे टिक नहीं सकता।

उपक्रम और उपसहार करते हुए विद्वान् अपनी विद्वत्ता-प्रचुर रीति और शैलीसे जिस तरहका प्रतिपादन करते हैं, उस परसे प्रतीत ऐसा होता है कि वे गीताका उद्देश्य कर्म-योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोगका समन्वयही मानते हैं, तथा सुननेवाले भी उनके सिद्धान्तोंके कायल हो जाते हैं। उन विद्वानोंके प्रतिपादनमें सत्यभी निस्सन्देह विद्यमान रहता ही है।

गीतामे कर्मयोग तो स्पष्ट ही है। अर्जुन युद्ध करनेके लिए रणभूमिमें उपस्थित हुआ था। पर वहाँ ऐन वक्त पर युद्ध करनेसे इन्कार करने लगा, पर श्रीकृष्णके उपदेशसे वह युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुआ। अतः कर्म न करनेवाले अर्जुनको कर्ममें प्रवृत्त करनेकोही गीताका तात्पर्य कहा जा सकता है।

उसी तरह यह कथन भी कि गीतामें ज्ञानकी प्रधानता है, सत्यसे बहुत दूर नहीं माना जा सकता। क्योंकि अपने आप्तोंके मोहमें पडकर ही अर्जुनने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया था। अज्ञान ही मोहका कारण है। श्रीकृष्णने उपदेश देकर अर्जुनके अज्ञान और उससे उत्पन्न मोहको दूर किया। अतः कहा जा सकता है कि गीताके उपदेशका सार मनुष्यको अज्ञानकी तरफसे ज्ञानकी ओर प्रेरित करना ही है।

भक्तिकी शिक्षा तो गीतामें जगह जगह बिखरी हुई ही है। भगवानने अन्यकी अपेक्षा भक्ति पर ही अधिक बल दिया है। कर्मयोगीकी अपेक्षा भक्तियोगीको अधिक श्रेष्ठ माना है। ज्ञानियोंमें भी जो भक्त हो, उसे ही श्रेष्ठ माना गया है। अर्जुनको भक्तिकी ओर मोडते हुए भगवान् कहते हैं.

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"तू सब धर्मोंके वादविवादको छोडकर केवल मेरी शरणमें चला आ। मैं तुझे सब पापोंसे छुडा दूंगा। चिन्ता मत कर।"

उपर्युक्त संक्षिप्त दिग्दर्शनसे प्रत्येक योगका यथार्थत्व आसानीसे समझा जा सकता है।

ऐसी अवस्थामें इस लेखमें जब मैं यह कहता हूं कि गीताकी मुख्य शिक्षा धर्म है, तो प्रश्न उठता है कि मेरे इस कथनका कोई अर्थ भी है? अथवा यह केवल एक नवीन सिद्धान्त स्थापित करनेका एक व्यर्थ प्रयासमात्र है।

यतो धर्मस्ततो जयः

मेरे कहनेका मतलब सिर्फ यही है कि जिस कारण उपर्युक्त तीनों योग परस्पर सामंजस्यपूर्ण हैं, इसलिए उन तीनोंके मध्यसे समरसतासे बहनेवाला एक ही प्रवाह है और वह प्रवाह है धर्मकी शिक्षाका। जो धर्मानुकूल कर्म है उसी को कर्मयोगत्वकी प्राप्ति होती है। जो धर्मका प्रतिष्ठापक ज्ञान है, वही सच्चे अर्थोंमें ज्ञानयोग है। जो भक्ति धर्मकी प्राणस्वरूप है, उसी भक्तिको सच्चा भक्तियोग है। गीताकी शिक्षामेंसे यदि धर्मको निकाल दिया जाए, तो उसमें केवल कर्मकी खटखट, ज्ञानकी बडबड और भक्तिकी बकबक ही बाकी रह जाएगी अर्थात् इन तीनोंमें कोई सत्त्व नहीं रह जाएगा। प्रत्येक योगकी योग्यता धर्मकी कसौटी पर परखी गई है और वही बात समझने लायक है।

जिस महाभारतका गीता एक भाग है, उस महाभारतका उद्देश्य ही धर्मसंस्थापनाका है। "यतो धर्मः ततो जयः" यह महाभारतका एक प्रधान सूत्र है। भगवान् व्यास अन्तमे दोनों बाहुओंको ऊंचा उठाकर आक्रोश करते हैं और यह देखकर कि उनकी बात कोई नहीं सुन रहा है, अतिशय खिन्न होते हैं। वे चिल्लाकर आखिर कहते क्या हैं? यही न!! "हे मनुष्यो! तुम्हें अर्थ चाहिए न? तुम्हे काम सिद्ध करना है न? पर ये दोनों पुरुषार्थ तो धर्म पर आश्रित हैं फिर उसी धर्मका सेवन तुम क्यों नहीं करते?—

धर्माद् अर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।

यह महाभारतका अन्तिम संदेश है। इस धर्मप्रतिष्ठाके अनुकूल ही गीताका प्राणरूप आविष्कार हुआ है।

यह धर्मका चश्मा लगाकर गीताकी ओर देखना चाहिए, उससे गीताका याथातथ्य उद्देश्य तत्काल समझमें आ जाएगा।

धर्मज्ञानके लिए अर्जुनका शिष्यत्व

"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं" कहकर अर्जुन श्रीकृष्णकी शरणमें गया और अन्तमें उसने अपना सर्वस्व भगवान्को समर्पित कर दिया। गीताके उपक्रम और उपसंहारसे यद्यपि यह अर्जुनका भक्तियोग ही दिखाई देता है, पर उसमें भी गुह्यतर धर्म किस तरह अभिप्रेत है, यह दृष्टव्य है। अर्जुनने श्रीकृष्णका जो शिष्यत्व स्वीकार किया, उसमें कारण क्या था? उसने अपने गुरुसे क्या अपेक्षा की थी? स्पष्ट ही है कि कोई भी मनुष्य अपने अज्ञानको नष्ट करनेके लिए ही किसीका शिष्य बनता है और वह गुरु भी ज्ञान देकर अपने शिष्यके अज्ञानको नष्ट करता है। इसलिए यह ज्ञानयोग ही हुआ। गुरु-शिष्यमें प्रेमके सम्बन्ध होते हैं। पर यह प्रेम या भक्ति ज्ञानका प्रकाश करनेके लिए ही होती है। इसीलिए श्री शंकराचार्यने कहा है—

ज्ञानसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

अर्थात् ज्ञानरूपी साध्यको सिद्ध करनेके लिए भक्ति एक श्रेष्ठ साधन है। साध्यके अनुकूल ही साधनका विवेकपूर्ण चुनाव करना पडता है। तारतम्यकी दृष्टिसे साधनकी अपेक्षा साध्य श्रेष्ठ होता है। इसीलिए भक्ति-अभिप्रेत ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण होता है।

धर्म्ययुद्ध और स्वधर्म

भक्ति भक्तिके लिए न होकर ज्ञानके लिए है, इस बातको मान लेने पर अगला महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि अर्जुन ने कौनसे ज्ञानके विषयमें पृच्छा की थी? अर्जुन कहता है,

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः

धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इस विषयमें अर्जुन मोहमें पड गया था। उसके मनमें धर्म और अधर्मके विचार चक्कर लगा रहे थे। उसके मनमें विचार उठ रहे थे कि—

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं अधर्मोऽभिभवत्युत।

" धर्मके नष्ट होने पर सारा कुल नष्ट हो जाएगा और अधर्मका जोर होगा। " तब

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।

" अधर्मके जोर होने पर, हे कृष्ण! कुलीन स्त्रियां दूषित हो जाएंगी। " उस अवस्थामें—

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः

" जातिधर्म और कुलधर्मका उच्छेद हो जाएगा।' फिर आगे जाकर अनन्तकाल तक नरकवास भोगना पडेगा '

इसप्रकार संग्राममें होनेवाली हानिके कारण धर्माधर्मके विषयमें अर्जुनको मोह हो गया था। उस मोहको दूर करनेके लिए ही अर्जुनने श्रीकृष्णके शिष्यत्वको स्वीकार किया था। ज्ञान और अज्ञान इन पदोंका अर्थ संदर्भके अनुसार करना चाहिए। ज्ञान और अज्ञान किसी भी विषयमें हो सकता है। यहां अर्जुनका अज्ञान धर्मनिर्णयके बारेमें था और श्रीकृष्णने धर्मोपदेश करके तत्संबन्धी अज्ञानको दूर किया था।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गी. २-३१)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ "
(गी. २-३३)

यह संग्राम धर्म्य है। सामोपचारका उपाय कारगर न हुआ। पांच गांव स्वीकार करके दामोपचार भी करके देख लिया, कुछ फायदा न हुआ। अन्तमें कृष्णने भेदनीतिका आश्रय लेकर कुशलतासे युद्धके धर्म्य-अधर्म्यका विवेक कराकर कौरवकुलमें श्रेष्ठोंके मनोंको पाण्डवोंकी ओर मोड दिया, इसप्रकार वे कौरवश्रेष्ठ भी शरीरसे तो कौरवोंकी ओर रहे, पर मनसे पाण्डवोंके पक्षपाती बन गए। अत. अब दण्डरूप उपाय ही धर्म्यसंग्रामके रूपमें सामने आकर उपस्थित हो गया था। क्षत्रियोंके लिए संग्रामके रूपमें मानों स्वर्गका द्वार खुल गया। यह क्षत्रियोंके सामाजिक जीवनमें स्वधर्म था। संग्रामके धर्म्य निश्चित हो जाने पर शत्रुओंको मारना पाप नहीं। उस समय शत्रुओंको न मारना ही पाप हो गया होता। स्वयं युद्धकी योजना न करने पर भी जब शत्रुओंके द्वारा युद्ध जबर्दस्ती लाद दिया जाता है, और जब स्वय भी युद्धमें उतरनेके सिवाय उसके लिए कोई गति नहीं रह जाती, तब युद्धसे मुह मोडना निस्सन्देह अधर्म ही है। युद्धसे मुह मोडनेमें तो कीर्ति है ही नहीं। उपस्थित युद्धमें पीठ दिखाना निश्चित रूपसे अधर्म और पापकर्म हो गया होता। यही श्रीकृष्णका उपदेश है कि—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

" धर्मका थोडासा आचरण भी बहुत बडे भयसे मनुष्यकी रक्षा करता है। स्वधर्मकी शिक्षा गीताका केन्द्रस्थान है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

इस वचनको भगवान्ने दोहराया है (गी. ३-३५ तथा १८-४७) गीतामें द्विरुक्ति नहीं सी है अतः इसका अर्थ यही है कि बार बार कहनेयोग्य बात स्वधर्मका तत्त्व ही है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह.।

अपने धर्ममें रहकर मृत्यु पाना श्रेयस्कर है, पर परधर्म हमेशा भयकारक ही होता है। " इससे एक कदम आगे बढकर ज्ञानेश्वर कहते हे– " स्वधर्माचरण सौभाग्य है तथा स्वधर्माचरणसे दूर भागना ही वैधव्य है। " वे " ज्ञानेश्वरी " में लिखते है—

" जैसी भ्रतारें हीन वनिता। उपहति पावे सर्वथा।
तैसी दशा जीविता। स्वधर्मैं वीण॥ (ज्ञाने. २-१९१)

जिसतरह पतिहीन स्त्री सर्वत्र पीडित होती है, उसीतरह की दशा स्वधर्मसे विहीन मनुष्यकी होती है। " जो पूर्वकृत दोष हे, उन्हे भी स्वधर्माचरणसे नष्ट किया जा सकता है।

देखें स्वधर्म हा आचरितां
दोष नाशे असता (ज्ञाने. २-२२२)

इतना स्वधर्माचरणमें सामर्थ्य है।

अवतारका कार्य धर्मसंस्थापना

भगवान्के अवतारका रहस्य भी धर्मसंस्थापना ही है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(गी. ४. ७, ८)

अधर्मके जोर पकडने पर धर्मकी ग्लानि होती ही है, तब धर्माचरण करनेवाले सज्जनोंकी रक्षा तथा अधर्माचरण करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिए समय समय पर अवतार लेकर भगवान् धर्मकी संस्थापना करते हैं। अर्जुनने श्रीकृष्णको "शाश्वतधर्मगोप्ता" से नामसे संबोधित किया है। श्रीकृष्ण स्वयंभी अपना परिचय "शाश्वतस्य हि धर्मस्य. ... (प्रतिष्ठाहम्) (गी १४.२७) कहकर देते हैं। "धर्मोऽस्य विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।" धर्मका विश्वधारक स्वरूप है और उसके अधिष्ठान भगवान् हैं।

धर्मात्मक भक्ति ही ईश्वरको प्रिय

नौवें अध्यायमें "इदं तु ते गुह्यतमं" कहकर जो राजविद्या और राजगुह्य कहा है, उसमें 'धर्म्य' विशेषण भी लगाया है। ऐसे धर्ममें अश्रद्धा रखनेवालेको भगवत्प्राप्ति न होकर मृत्युसंसारके मार्गमें ही भटकना पडता है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।
(गी. ९.३)

बारहवें अध्यायमें भक्तिके लक्षण बताकर उसका वर्णन "धर्म्यामृतं" इन शब्दोंमें किया है। अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी ईश्वरकी भक्तिके कारण "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा" शीघ्रही धर्मात्मा होता है। यह भक्तिकी फलश्रुति है। धर्मशीलता भक्तिका गमक है। नामस्मरणको भक्तिका अन्तरंग माना जाए, तो धर्माचरण भक्तिका बहिरंग है। धर्माचरण न करते हुए भगवद्भक्ति करनेवाले लोग पापी और ढोंगी हैं। क्योंकि धर्माचरणके बारेमें परमात्माकी आज्ञा भंग करनेके कारण वे परमात्मासे द्वेष ही करते हैं। विष्णुपुराणमें उल्लेख है—

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥

मनुष्य केवल नामस्मरण करता रहे और ईश्वर अवतार ले लेकर धर्माचरण करे, यह बात असंभव है। श्रीकृष्ण कहते हैं— 'मामनुस्मर युध्य च' मेरा स्मरण कर और युद्ध करता जा। इसप्रकार धर्मयुक्त भक्ति अथवा भक्तियुक्त धर्मकी शिक्षा ही गीतामें दी गई है। ईश्वरकी यही इच्छा है कि उसका भक्त अपने धर्मका आचरण करे। उसकी उपेक्षा करके ईश्वरकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। ज्ञानदेव कहते हैं—

जगा जया जें विहित। तें ईश्वराचें मनोगत।
म्हणौनि केलिया निर्भ्रान्त। सांपडेचि तो॥
(ज्ञाने. १८.९११)

'जो विहित धर्माचरण है, वही ईश्वरके मनकी इच्छा है। यदि मनुष्य निर्भ्रान्त होकर उस धर्माचरणको करे, तो वह ईश्वर मिल सकता है।' विहित कर्मोंका निरपेक्ष आचरण ही कर्मयोग है और उसी की संज्ञा "धर्म" है।

गीतामें स्थान स्थान पर ज्ञानियों, स्थितप्रज्ञों, गुणातीतों और भक्तोंके लक्षण कहे गए हैं, वे सब सद्गुणके रूपसे कहे गए हैं। नानाप्रकारके सद्गुणों को धारण करना धर्मका प्रत्यक्षरूप है। इनसे व्यक्ति और समाजका विकास होता है। सद्गुण अन्तःकरणमें ही रहकर सद्गुण नहीं रह सकते, उनका अस्तित्व तो बाह्य आचरणसे ही प्रकट होता है।

धर्मशास्त्रकी प्रामाणिकता

कार्य क्या है और अकार्य क्या है अर्थात् कौनसे काम धर्मके और कौनसे अधर्मके हैं, यह कैसे निश्चय किया जाए? इसका निश्चय मनुष्य अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता। पुरुषबुद्धिके द्वारा निश्चित किया गया धर्माधर्म कामाचारही है। धर्माधर्मका भी एक शास्त्र है। वह व्यक्ति-निरपेक्ष अथवा अपौरुषेय है। इसलिए गीतामें कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
(गी. १६.२४)

वेदशास्त्रोंमें विधिनिषेधपरक वाक्य हैं, वे ही प्रमाणरूप हैं। शास्त्र–विधानोक्त कार्मोंको करना ही धर्म है। "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" शास्त्रने जैसी चोदना-प्रेरणा दी हो तदनुसार व्यवहार करना ही धर्म है। अर्जुन जब "करिष्ये वचनं तव" कहता है, तब वह इसी धर्म-व्याख्याके अनुसार वर्तन करता है। धर्मनिर्णयके सम्बन्धमें मोह–अज्ञानके नष्ट होनेकी स्वीकृति देकर वह अपना निश्चय प्रकट करता है कि "मैं आपके कथनानुसार कार्य करूंगा।" इसमें एक ही साथ धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्तिकी समरसताके दर्शन होते हैं। ईश्वरेच्छाके समान व्यवहार करना ही ईश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति है। ईश्वरेच्छाके अनुसार व्यवहार करना

चाहिए, यह समझना ही ज्ञान है, उस ज्ञानके अनुसार वर्तन करना ही कर्म है। वे ज्ञान और कर्म धर्मसम्बन्धी होनेके कारण धर्म ही हे। इसप्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों धर्मके अगभूत ही हे, स्वतत्र नहीं।

कृष्णार्जुनका धर्म्य संवाद

कृष्णार्जुनके सवादका वर्णन " धर्म्यं संवादमावयोः "
(गी. १८. ७०)

इन शब्दोंमें किया है। उनका संवाद धर्मसंबन्धी था। इस प्रकार बार बार धर्मका अभ्यास गीतामें किया है। यही उस ग्रंथकी अपूर्वता है। धर्मसंस्थापना ही गीतोपदेशका फल है। पूर्वापर सदर्भको देखते हुए गीता मुख्यत धर्मप्रतिपादक ग्रंथ है। इसी धर्मतत्त्वका अर्थवाद या स्तुति गीतामें है। इस स्थूल दृष्टिकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्मतासे देखा जाए, तो " धर्मक्षेत्रे " के रूपमे गीताका उपक्रम ही धर्मसे किया है और " ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम " के रूपमें ध्रुवा नीति अर्थात् नित्य, शाश्वत नीतिका अथवा धर्मका ही गीतामें उपसंहार भी है।

पिछले हजार-बारह सौ वर्षोंमे संकडों संतभक्त इस भारतभू पर अवतीर्ण हुए और आज भी हैं। तो भी भारतीयोंकी यह दैन्यता या दीनजीवन दूर न हुआ भला। इसका कारण क्या है? इसका केवलमात्र कारण यही है कि—

" धर्मका स्थान भक्तिने ले लिया

एकान्तिक भक्तिको ही धर्म समझकर उसका दोषपूर्ण समीकरण किया गया। भक्ति मनुष्यको वैयक्तिक रूपसे मोक्षकी ओर ले जानेवाला मार्ग हो सकती है, पर उससे सामाजिक स्थैर्य तथा प्रिय एवं श्रेयस्कर दोनों तरहके पुरुषार्थ साधनेकी विजिगीषुवृत्ति ओझल हो जाएगी। भक्ति ही यदि धर्म होता तो उसके साथ जय भी आ गयी होती, पर स्थान स्थान पर भक्तिका उद्रेक होने पर भी हमारा इतिहास होनेवाले पराभवों पर पराभवसे कलंकित है। यहां वैदिककालीन ज्ञानकी जीवित-जागृत उपासना नहीं रही। और अविश्रान्त श्रम तो लुप्त ही हो गया। ज्ञान और कर्मके अभावमे व्यक्ति तथा समाजका अभ्युदय हो ही नहीं सकता। इन मूल्यवान् धर्मके अंगोंको छोडकर केवल अन्धभक्ति काही पल्ला पकडनेसे हम सन्मार्गसे भटक गए हैं और अपयशके भागी बन बैठे है।

गीतामें भक्तिका वर्णन है, पर गीता भक्तिका ग्रंथ नहीं है। गीतामें ज्ञान भी वर्णित है, पर वह अध्यात्मशास्त्रका ग्रंथ नहीं है। गीतामें कर्म पर भी बल दिया गया है, पर उसे कर्मकांडका ग्रंथ कहना गलत होगा। गीता तो धर्म-कर्म की व्याख्या करनेवाला एक धर्मशास्त्रका ग्रंथ है। गीतामें सूत्ररूपसे अथवा तत्त्वरूपसे धर्मशास्त्रका उपदेश है। युद्धभूमि कोई भक्ति अथवा अध्यात्मके उपदेशका उपयुक्त स्थल नहीं है। युद्ध जैसी एक धर्मसमस्या उत्पन्न होनेके कारण धर्मका उपदेश देने तथा उसका आचरण करवानेके लिए ही गीता कही गई है।

शैशवदशामे देश प्राय जिस समय सब व्याप्त थे
निःशेष विषयोंमें तभी हम प्रौढताको प्राप्त थे।
ससारको पहले हमीने ज्ञान-भिक्षा दान की
आचारकी, व्यापारकी, व्यवहारकी, विज्ञानकी ॥

— महाकवि स्व. मैथिलीशरण गुप्त



डॉ हरिदत्त पालीवाल "निर्भय" पीएच्. डी.

वैदिकधर्मकी विशेषता

[आजके युगमें "आर्य" और 'हिन्दु" को पर्यायवाची मान लिया गया है। यह मन्तव्य कहां तक सही है, यह मतभेदका विषय हो सकता है। सम्भवतः क्यों, निश्चय ही, आर्यसमाजके अनुयायी इस मतके पोषक नहीं होंगे। कईयोंके विचारसे "हिन्दु" शब्द आर्योंके लिए मुसलमानोंका दिया तथा "काफिर" अर्थका वाचक है इसलिए आर्योंके लिए "हिन्दु" शब्दका प्रयोग अनुचित है। पर ये सभी मत अपने अपने वैयक्तिक दृष्टिकोणके निदर्शक है। प्रस्तुत लेखमे लेखकने "आर्य" शब्दका बहुत व्यापक अर्थ लेकर उसका क्षेत्र वेदोंसे लेकर आज तक माना है। इस लेखमें लेखकने आर्यधर्मका जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह मननीय है]

☆

आर्यत्व या आर्यधर्मकी कोई निश्चित व्याख्या करना तथा उसके आधुनिक दृष्टिकोण और दर्शनको सरल पर सारगर्भित शब्दोंमें प्रस्तुत करना कठिन है। इसके कारणकी खोज करनेके लिए हमें दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई आर्य धर्मग्रथ नहीं है कि जिसके बारेमें यह कहा जा सके कि वह आर्यधर्मके आदर्श पर चरमोचित करता है, अथवा आर्यधार्मिक–भावोंको पूर्णतया अपने अन्दर समेटे हुए है। ऐसा कोई भी ईशदूत, अवतार अथवा दैवी मानव आज तक नहीं हुआ, जिसके बारेमें यह कहा जा सके कि वह दैवीज्ञानका एकमात्र व्याख्याता और ईश तथा मनुजके बीच एकमात्र सेतु है। जो आर्यधर्म पर अधिकारपूर्वक अपने विचार व्यक्त करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम आर्यधार्मिक साहित्यके सागरका मन्थन करना होगा तथा सामान्य आर्य-जीवनमे अप्रत्यक्ष रूपसे जो भाव ओतप्रोत हैं उन भावोंको ग्रहण करनेके लिए उस जीवनके निकटतम सम्पर्कमें आना होगा।

तथापि जिसका जन्म और लालन पालन एक न्यूनाधिक धार्मिक वृत्तिवाले परिवारमें हुआ है, परिणामस्वरूप जिसने आर्यधर्मके भावोंको थोडा बहुत जाना और समझा है तथा जो तत्त्वचिन्तनके क्षेत्रमे भी प्रवेश पा चुका है, उसके लिए यह सम्भव है कि वह स्थूलरूपसे आर्यधार्मिक वृत्तिको तथा आर्यधर्मके आधारको अभिव्यक्त कर सके। तो भी उसका यह प्रयत्न किन्ही मर्यादाओंसे अवश्य बधा हुआ रहेगा। साथ ही उसे इस बातको भी स्वीकार करनेके लिए तैय्यार होना होगा कि उसके द्वारा व्यक्त किए गए विचारोंमें आर्यधर्म–साहित्यके रथी और धर्मतत्त्वके विशेषज्ञों द्वारा सशोधन भी किए जा सकते हैं। मतलब यह कि वह अपन विचारोंको अन्तिम मानकर यह आग्रह न करे उसके विचारों

को सभी लोग स्वीकार करें। कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि इस लेखका लेखक अपनी मर्यादाओंको स्वीकार करता है और अपने लेखमें संशोधनकी संभावनाओंको भी स्वीकार करता हुआ खुले दिलसे संशोधनके लिए अपने निबन्धको प्रस्तुत करता है।

कुछ लोगोंने आर्यधर्मको नास्तिकतासे पूर्ण भोगवादी बताया, तो किसीने उसके मूर्तिपूजाके पक्षको लेकर उसकी आलोचना की, तो कुछने उस धर्म पर तथाकथित निराशावाद, भाग्यवाद तथा अकर्मण्यतावादका आरोप लगाकर उस धर्मके विरुद्ध अपनी धारणाओंको प्रकट किया तथा आर्यधर्मके प्रति अवमानपूर्ण विचार भी व्यक्त किए। पर आर्यधर्म पर उपरोक्त सभी आलोचनायें जहां तहांसे प्राप्त तथा असन्तोषजनक रीतिसे विश्लेषित तथ्यों पर ही आश्रित होती हैं। ऐसे समय आलोचक यह भी भूल जाते हैं कि प्राणमय जीवनदर्शन किसी एक विशिष्ट जाति, युग या देशकी सम्पत्ति नहीं होता, बल्कि ऐसा जीवनदर्शन सर्वत्र और सब समय जन्म लेता रहता है। कोई व्यवस्था हर दृष्टिसे पूर्ण तथा व्यापक नहीं हो सकती। हर व्यवस्थामें अपवादोंकी संभावना अवश्य रहती है। पर साथ ही यह भी सत्य है कि किसी संस्था या धर्ममें कितने भी दोष हों, तो भी उसमें ऐसे अनेक मूल्यवान् तत्त्व अवश्य रहते हैं कि जिनके कारण उस संस्था या धर्मकी कीमत पहचानी जा सकती है। केवल थोडेसे–दोषके कारण किसी संस्था या धर्मकी सर्वतोमुखी निन्दा अनुचित और आलोचकके संकुचित मनोवृत्तिका द्योतक है। आर्यधर्मके पक्षमें यह बात तो नितान्त सत्य है कि यह धर्म अत्यन्त उदार है, यह मानवताकी विशालता तथा सत्यकी अनेक पक्षीयतामें विश्वास करता है। (सत्यका एक ही पक्ष मानना सत्यको संकुचित बनाना है, जब कि सच्चाई यह है कि सत्य हमेशा बृहत् ही होता है) आर्यधर्म कभी भी कतिपय जड–सिद्धान्तोंकी सीमाओंमें कुंठित नहीं होता, अपितु सदा नूतन व्यवस्थाओं, नये संयोजनों एवं मौलिक जीवनदर्शनोंका स्वागत करनेके लिए सदा तत्पर रहता है। इसीकारण इस आर्यधर्मको सनातन-धर्म भी कहा जाता है अर्थात् यह वह धर्म है जो सदासे है और सदा रहेगा। इसका सनातनत्व ही वह तत्त्व है कि जो आर्यधर्मकी उस शक्तिकी व्याख्या करता है जिस शक्तिके कारण यह धर्म इतर धर्मोंको आत्मसात् करके आत्मरक्षा भी करता है। प्रश्न यह है कि यदि आर्यधर्म इतना शक्तिशाली है, तो उसके अनुयायियोंकी आज यह अवनति क्यों ? उत्तर है– आर्यधर्मके अनुयायियोंकी अपने एक ध्येयको छोडकर चतुर्मुखी प्रवृत्ति ही उनकी अवनतिका कारण है। एक मनुष्य कुछ मील पूर्व दिशामें चले, कुछ मील दक्षिण दिशामें चले, कुछ मील पश्चिममें चले और कुछ मील उत्तरमें चले तो वह अपनी मंजिल पर तो पहुंच ही नहीं सकता, साथ ही उसकी गतिमें मन्दता आजाएगी। इसीतरह आर्यधर्ममें भी चतुर्मुखी प्रवृत्ति होनेके कारण उसकी गतिमें मन्दता आ गई, लिहाजा आर्यधर्मको लोग निराशावादी, भाग्यवादी अकर्मण्यतावादी आदि न जाने क्या क्या समझ बैठे।

यहां तक जो कुछ लिखा गया, उससे आर्यधर्मभाव या धर्मवृत्तिकी दो विशेषतायें तो स्पष्ट हो जाती हैं–(१) आर्यधर्म में उदारताका भाव तथा कट्टरताका अभाव, (२) परिवर्तनके प्रति आस्थावान् होते हुए भी किसी नवीन सिद्धान्त को सहसा अपनानेमें अरुचि।

आर्यधर्मकी एक और भी विशेषता है। यह विशेषता है– उसकी अटपटी वाणी, परमेशको अनेक परस्पर–विरोधी गुणोंसे मंडित करनेका प्रयत्न तथा उसकी यह मान्यता कि एक जीवनदृष्टि तथा जीवनमार्ग भी उतने ही सत्य हो सकते हैं जितने कि दूसरे। आर्यधर्मकी इस विशेषताने अनेक विदेशी पर्यवेक्षकोंको चक्करमें डाल दिया और वे आर्यधर्मकी सत्यनिष्ठाके प्रति शंकालु बन गए। अन्तिम विशेषताके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यधर्म दूसरे धर्मोंसे विरोध नहीं करता, क्योंकि यह धर्म दूसरे धर्मोंमें निर्दिष्ट मार्गोंमें भी सत्यका दर्शन करता है। आर्यधर्म अन्य धर्मोंके समान दुराग्रही तथा कट्टरपंथी नहीं है। आर्यधर्मका प्रमुख स्वर यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक जन अपनी क्षमता, रुचि और विकासस्तरके अनुसार जीवन–क्रमको स्वीकार करे और उसके अनुसार आचरण करे। आर्यधर्म स्पष्टतया इस बातको स्वीकार करता है कि बहुरंगी मानवस्वभाव एक ही सांचेमें नहीं ढाला जा सकता, इसलिए मुक्तिमार्ग एक न होकर अनेक हैं।

इसप्रकार वैदिकधर्ममें सहिष्णुता है, उदारता है, विशालता है और इतर धर्मानुयायियोंके प्रति सहानुभूति है।

इसलिए वैदिकधर्मको सब धर्मोंका समन्वय अथवा एक सार्वभौम धर्म कहा जा सकता है। वैदिकधर्म अपने उद्भवके लिए किसी अवतार, पैगम्बर या तवीका ऋणी नहीं है, न वह किसी एक धर्मग्रंथ पर वह टिका हुआ है, वह धर्म तो वस्तुतः एक चयनमूलक समष्टि है। वैदिकधर्म उन सब विभिन्न मतों, और मार्गोंकी एक संग्रहात्मक सज्ञा है, जिन्होंने समय समय पर भारतको उद्वेलित किया, भले ही यह उद्वेलन या जागरण संगठित देशव्यापी आन्दोलनोंके रूपमें हुआ हो, या जहां तहां छिटपुट रूपमें। इन समस्त भिन्नतामूलक तत्त्वोंसे वैदिकधर्मका कलेवर बना है। उक्त समस्त तत्त्वोंको "वैदिकधर्म" इस अभिधानने एक संघीय एकतामें गुंफित कर दिया है और उन्हें एक समजातीयताकी भावना प्रदान की है। इसके अतिरिक्त वैदिकधर्मान्तर्गत विभिन्न मतों और सम्प्रदायों में कुछ अन्यभी सामान्यसूत्र हैं जो कि इन मतों और सम्प्रदायों पर विशिष्ट एकता की छाप लगाते हैं और उन्हें एक ही समष्टिके विभिन्न अंगोंके रूपमें दर्शाते हैं। वैदिकधर्म इस प्रकार एक समष्टिगत धर्म होते हुए भी इसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

यहां हमें एक भयके प्रति सचेत रहना है। वह भय यह है– हम देख चुके हैं कि वैदिकधर्म विभिन्न मतोंको समष्टि होनेके कारण इसमें भिन्न और बहुरंगी तत्त्वोंमें कुछ तत्त्व उच्चश्रेणीय हैं और कुछ निम्नश्रेणीय, अतः यहां हमें इस भयके प्रति सचेत रहना है कि वैदिकधर्मकी व्याख्या इन निम्नश्रेणीय तत्त्वोंके आधार पर न की जाए। (कई बार ऐसी व्याख्या करनेका प्रयास किया गया, और वैदिकधर्मका स्वरूप ही विकृत हो गया।) वैदिकधर्ममें निहित उच्च तत्त्वोंकी कभी भी अवहेलना न की जाए। वैदिकधर्ममें निहित निम्नश्रेणीय तत्त्वोंके आधार पर उसकी व्याख्या करना उसकी एकांगी व्याख्या ही होगी। ऐसी व्याख्या मानवीय दुर्बलताका एक दृष्टान्त है। इसी दुर्बलतासे प्रेरित होकर मनुष्य असावधानीपूर्वक सामान्यनियम स्थापित करता है और अपर्याप्त आधार पर उतावलेपनसे अपने मत निर्मित करता है। समय समय पर कई आन्दोलनोंने जन्म लिया, जैसे ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज। इन्होंने वैदिकधर्ममेंसे उन आक्षेपणीय तत्त्वोंको दूर करके हिन्दूसमाजकी धार्मिक चेतनाको परिष्कृत करनेका प्रयास किया, परन्तु किसी न किसी कारणवश ये आन्दोलन हिन्दूजातिको समग्र रूपसे जगानेमें असफल रहे। इसी कारण आज भी हिन्दूधर्ममें परिष्कार करके उसे जागृत करनेकी आवश्यकता बनी ही हुई है।

वैदिकधर्मका ईश्वरके स्वरूपके प्रति दृष्टिकोण अपना निराला है। वह मनुष्यको सृष्टिके प्रति एक अनोखा भाव रखनेके लिए 'उपदेश देता है तथा मानव-व्यवहारका एक अनूठा सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। ईश्वरके स्वरूपके प्रति वैदिकधर्मका सामान्य दृष्टिकोण यह है कि वह ईश्वरको परम पुरुष मानता है, जिसने उद्देश्यपूर्वक जगत्की सृष्टि की है और जो जगत्का पोषक और शासक है। ईश्वरको सर्वगत, निराकार और निस्पृह ब्रह्म माना गया है। ईश्वरके स्वरूप तथा ईश्वर और जगत्के पारस्परिक सम्बन्धके विषयमें वैदिकधर्ममें अनेक दृष्टिकोण मिलते हैं, ये ऊपरसे भिन्न भिन्न दिखाई देने पर भी इनका आन्तरिकभाव एकही है।

इस ईश्वरवादी विश्वासने कि परमेश एक चैतन्ययुक्त पुरुषोत्तमके रूपमें समस्त प्रकृतिमें व्याप्त है, आर्योंमें एक सर्वगत श्रद्धाभाव का निर्माण किया है। यह भी संभव है कि इसी विश्वासने अहिंसाके सिद्धान्तके विकासमें योग दिया हो और वैदिकधर्मको इतनी व्यापकता प्रदान की हो कि उसने सभी पशु और प्रस्तरादि जड पदार्थोंमें ईश्वरके सर्वव्यापित्वको स्वीकार किया। जैसा कि आज अनेक हिन्दु कहते हैं कि एक मूर्ति अथवा किसी पशु या अन्य प्राकृतिक भूतकी पूजा करनेमें हम वस्तुतः उस परमात्माकी पूजा करते हैं जो कि समस्त प्रकृतिमें व्याप्त है। पर मूर्तिपूजा अथवा पशुपूजा आदिके पक्षमें कुछ भी कहा जाए, यह तथ्य अकाट्य है कि साधनाका आधिक्य एक प्रकारके शैथिल्यको जन्म देता है तथा मनको धर्मके सत्यभावसे वियुक्त करता है।

वैदिकधर्मकी ब्रह्मवादी प्रवृत्तिकी भी अपनी विशेषता है। इस वादने वैदिकधर्मको एक शान्तता प्रदान की है तथा वह समदृष्टि भी दी है, जिसके भीतर ऊच-नीच, सुख-दुःख आदि समस्त भेद तिरोहित हो जाते हैं। निस्सन्देह संसारमें अत्यधिक आसक्तिको नियमित करनेके साधनके रूपमें ब्रह्मवादका एक मूल्य है, क्योंकि यह सिद्धान्त मानवमनको सांसारिक वस्तुओंकी निस्सारताके भावसे अवश्य भरेगा, परन्तु जैसा कि अनुभवने अनेक बार बताया भी है, वह

स्पष्ट है कि उक्त सिद्धान्तके प्रति विशिष्ट आग्रह हमारी जीवनोन्मुखी प्रवृत्तिको शिथिल कर देगा तथा हमें अनेक निर्विवाद नैतिक मूल्यों जैसे– प्रेम, त्याग, सेवा आदिके प्रति भी उपेक्षापूर्ण बना देगा।

वैदिकधर्ममें स्वभाववादका प्रभाव उस सुविख्यात कर्म-सिद्धान्तमें है, जिसके अनुसार मानव–भाग्यका निर्माण एक अर्धयांत्रिकरूपमें इस जगतमें उसके द्वारा किए गए कर्मोंसे भागवत हस्तक्षेपसे स्वतंत्रतापूर्वक होता है। कुछ विद्वानोंने कर्मसिद्धान्त पर ये आक्षेप किए हैं–– (१) यह सिद्धान्त पथभ्रष्टके मोक्षके लिए कोई द्वार खुला नहीं छोडता। (२) यह सिद्धान्त ऐसे पथभ्रष्टोंके प्रति लोगोंको उदासीन बना देता है। (३) वे लोग सोचते हैं कि ये दुःखी जन तो अपने पूर्वकृत कर्मोंके कारण ही दुःख भोग रहे हैं, अतः इसमें कोई क्या कर सकता है ? ये दुःख तो इन्हें भोगने ही पडेंगे। (४) इसप्रकार सुखीजन दुःखीजनोंकी सहायता करनेके लिए कभी आगे नहीं आएंगे। इसप्रकार सारा नीतिशास्त्र (Ethics) व्यर्थ हो जाएगा।

उनके ये आक्षेप इसी कारण हैं कि उन्होंने कर्मसिद्धान्तकी व्याख्या बहुत ही संकुचित तथा सीमित अर्थोंमें की है। यदि "कर्म" शब्दके अर्थको विस्तृत किया जाए और कर्मके अन्तर्गत मनुष्यके बाह्य व्यापारोंके साथ साथ आन्तरिक भावनाओं, अभिवृत्तियों और संकल्पोंको भी शामिल कर लिया जाए, तो कर्मशासनके अधीन मानव-जीवनका चित्र वैसा रूक्ष, कठोर तथा नीरस नहीं दीखेगा। क्योंकि किसी दुष्कर्मको करनेके बाद होनेवाले पश्चात्ताप तथा उसके बादसे सदा सत्कर्म करनेका संकल्प आदि उन शक्तियोंको जन्म दे सकते हैं, जो उपरोक्त दुष्कर्मके उदीयमान कुफलोंको बाधित या नष्ट कर देंगी। दूसरी ओर जब सुखीजन भी इस बातकी कल्पना करेंगे कि वे भी अपने कर्मोंके परिपाकस्वरूप इसी प्रकार कभी दुःखमें पड सकते हैं और उस अवस्थामें उन्हें भी दूसरोंकी दया तथा सहानुभूतिकी आवश्यकता होगी, तो वे भी दूसरोंके प्रति दया तथा सहानुभूतिका भाव दिखायेंगे।

कर्मसिद्धान्तका पूरक पुनर्जन्म सिद्धान्त है। यह अनिवार्य नहीं है कि किसी व्यक्तिके कर्मोंके समस्त परिणाम एक ही जीवनकी सीमाओंमें भोग लिए जाएं। सामान्यतः यही होता है कि एक जन्ममें किए गए कर्मोंमेंसे कुछके परिणाम दूसरे जन्ममें भोगनेके लिए छोड दिए जाते हैं। इसप्रकार एक जीवात्माको अनेकानेक जन्मोंकी शृंखलामें तब तक बंधना होता है, जब तक कि उसके कर्मोंका आयव्यय बराबर न हो जाए। कर्मोंके आयव्ययके बराबर हो जाने पर जीवात्मा पुनर्जन्मके बंधनसे मुक्त हो जाती है और परमात्मामें लीन हो जाती है। पुनर्जन्म सिद्धान्तके गुणावगुण कुछ भी हों, कमसे कम यह सिद्धान्त एक सुन्दर ढंगसे इस जगत्में दृष्ट भाग्य–भेदोंकी व्याख्या करता है। इसके अतिरिक्त इसकी सत्यतापर प्रकाश डालनेवाले साक्ष्यकी भी कमी नहीं है। प्रस्तुत स्थल पर वैदिकधर्म ईसाई तथा मुसलमान धर्मसे बहुत भिन्न है, जिनके मत मानवात्माकी मृत्यु–परवर्ती दशाके विषयमें नितान्त भिन्न हैं।

कर्मसिद्धान्तसे भिन्न और उसकी अपेक्षा अधिक व्यवहार-मूलक निष्काम-कर्म-सिद्धान्त है। निष्काम-कर्म-सिद्धान्त गीताकी शिक्षाका मूलमंत्र है। संक्षेपतः उक्त सिद्धान्त यह है कि यह देखते हुए कि कर्म ही जीवनकी आत्मा है निष्क्रियता अथवा अनिर्णीतता अनुचित है और प्रत्येक व्यक्तिको दृढ-संकल्पपूर्वक कर्म करना चाहिये परन्तु उसके किसी कर्ममें कर्म-फल विषयक चिंता नहीं होनी चाहिये। मनोविज्ञान यहां एक प्रश्न उठा सकता है– क्या कर्म करनेमें किसी व्यक्तिकी मानसिक दशा नितान्त रूपसे निस्पृहताकी हो सकती है और क्या उनके मनमें कहीं पर कोई ठोस लक्ष्य नहीं होगा ? उत्तरमें कहा जा सकता है कि मात्र कर्तव्य-पालनसे प्राप्य आनन्दके रूपमें ठोस लक्ष्य होगा और प्रस्तुत सदर्भमें निस्पृहताका अर्थ केवल कर्तव्य–कर्मम संकुचित स्वार्थकी दृष्टिका अभाव है। कोई यहां यह प्रश्न भी कर सकता है, कर्तव्य क्या है एवं कर्तव्यके विषयमें गीता क्या कहती है ? वस्तुतः गीता इस प्रश्नको अधिकांशतः अनुत्तरित छोड देती है, कारण कर्तव्यका सर्वदा पूर्व – निर्धारण नहीं किया जा सकता और कर्तव्य किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर होता है, परन्तु एक सर्वोच्च कर्तव्य, कर्तव्योंके कर्तव्यका वह अवश्य निर्देशन करती है और वह कर्तव्य है 'अपने समस्त कर्मोंमें एकान्ततः स्वार्थमय भावनाओंका त्याग।' यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि किसी व्यक्तिको स्वार्थहीन क्यों होना चाहिये एवं स्वार्थशून्यताके आदर्शका तार्किक आधार क्या है ? उक्त प्रश्नका यह उत्तर हो सकता है कि स्वार्थशून्यता अपनेमें ही शिवम् है तथा अपनी तर्कसमतताके निमित्त वह अपनेसे परे किसी पदार्थकी अपेक्षा नहीं करती। यहां यह कहा जा सकता है कि गीता व्यवहारके एक भव्यतम सिद्धान्तकी व्याख्या करती है, और यह ठीक ही है जो वह इतने प्रबल आकर्षणकी जननी बनी

हैं, केवल भारतमें ही नहीं परन्तु अनेक समाजोंमें अन्यत्र भी।

यद्यपि गीता निष्कामकर्मसिद्धान्तको सर्वगत अपौरुषेय जगदाधारके तान्त्रिक सिद्धान्त पर छोड देती है, तथापि उक्त सिद्धान्तकी व्याख्या परमेश विषयक उस अन्य सिद्धान्तके आधार पर भी की जा सकती है जिस सिद्धान्तके अनुसार परमेश एक महान् कलाकार या एक महान् खिलाडी है जो कि क्रीडानिमित्त एव स्वान्तर्गत आनन्द बाहुल्य अथवा उल्लासमय प्रेमके आधीन जगत्को उत्पन्न करता है। यह देखते हुए कि समस्त मानव कृत्यों व भावोंको सत्य तथा फलप्रद होनेके निमित्त चरमतत्त्वकी ओर निहारना है, यह स्पष्ट है कि इन कृत्यो व भावोंके अचलमें स्वार्थहीन प्रेम होना चाहिए।

भिन्न और परस्परत: विरोधी दीखनेवाले विचारोंको मिलाने की, तथा किसी वस्तुत व्यापक और सर्वतोमुखी दर्शननिर्माणकी दिशामें वैदिक–मनोवृत्तिने जो परिश्रम किया है वह अनेक उन सूत्रों, बीजाक्षरों, एव सक्षिप्त वाक्योंमें व्यक्त है जो कि लगभग सभी आर्योंके जिव्हाग्र पर वास करते हैं और तनिक क्षोभके संयोगसे ही वाणोके रूपमें निकल उठते है। एक ऐसा सूत्र है-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और इसका तात्पर्य है कि जीवनोद्देश्य चतुर्मुख होता है जिसमे परोपकार, अर्थोत्पादन, इन्द्रियजन्यसुख तथा मोक्ष होते है। एक अन्य सूत्र है– ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग यानी आत्मलाभके तीन वैकल्पिक मार्ग होते हैं– ज्ञानप्रधानमार्ग, कर्मप्रधानमार्ग एव भक्तिप्रधानमार्ग। एक तीसरा सूत्र जो कि एक सुसंगठित एवं सुनियोजित जीवनके चार आश्रम–स्थलों को निर्दिष्ट करता है जो कि निम्नोक्त है– ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, सन्यास। इस सूत्र अथवा संक्षिप्त दर्शनोक्तिके अनुसार एक सुनियोजित जीवनके चार क्रमिक भाग हैं जो साधारण शब्दोंमें इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं– इह लौकिक जीवनकी तैय्यारी, इह लौकिक जीवन पारलौकिक जीवनकी तैय्यारी, पारलौकिक जीवन। इत्यादि २॥

वैदिकधर्म पर्वो, उत्सवों और तज्जनित उल्लासानुभूतियों की परम्परासे विभूषित है। वैदिकधर्मके उत्सव व समारोह अधिकांशत प्रकृतिकी विभिन्न भावभगिमाओंके चतुर्दिक् घूमते हैं और एक आर्यके प्रकृति–प्रेम तथा प्रकृति–जीवन और मानव–जीवनकी सहचारिताके उसके भावको प्रकट करते हैं। यह वैदिकधर्मका प्रकृतिप्रधान पक्ष है और वैदिकधर्मकी उन मान्यताओंकी ओर संकेत करता है जिनमेंसे एक यह है कि मानवात्मा तथा प्रकृति दोनोंमें एक ही परम जीवन है और इस प्रकार दोनो वस्तुत अभिन्न हैं, तथा एक दूसरी वह है जिसके अनुसार परमेश एक विनोदप्रिय प्रेमी तथा सृष्टिकर्ता है। वैदिकधर्मका यह प्रकृति–प्रधान पक्ष कतिपय सीमाओंके अन्दर एक स्वस्थ और सामान्य वस्तु है, परन्तु यह स्पष्ट है कि इसकी प्रबलता लोगोंको जीवनके गंभीर रूपके प्रति उपेक्षापूर्ण बना सकती है तथा उनमें एक उथलेपनके भाव को जन्म दे सकती है। आर्योंकी प्रकृतिके प्रति उक्त रागात्मक वृत्ति और प्रकृतिके भिन्न विलासोंमें उसके साथ उन्मुक्त साहचर्य्य, प्राचीन यूनानी प्रकृति–पूजाकी ओर सकेत करते हैं और तुलना तथा पारस्परिक आदान–प्रदानके प्रश्नोंको उठाते हैं, परन्तु यह सब प्रस्तुत निबन्धके विषय–वृत्तके बाहरकी बातें हैं।

वैदिक धर्मके शब्द (पद) 'धर्म' ने अपने ठीक अर्थके सम्बन्धमें न केवल आर्येतरो वरन् अनेक आर्योंके समक्ष भी कुछ कठिनाई प्रस्तुत की है। आजकल 'धर्म' इस पदका प्रयोग अग्रेजी पद 'रिलीजन' के समानार्थक पदके रूपमें किया जाता है, और 'रिलीजन' के समान वैयक्तिक आस्थाओं तथा सगठित सार्वजनीन–सम्प्रदायोंका निर्देश करता है। वैदिकधर्मशास्त्रोंमें कभी तो इस "धर्म" पदका प्रयोग सामान्य–मानव कर्तव्यके अर्थमें होता है और कभी केवल जातिगत अथवा वर्णगत कर्तव्यके अर्थमें। इस शब्दके अन्य अर्थ भी हैं। परन्तु उन सब अर्थोंमें प्रवेश एक विशिष्ट समीक्षाका विषय होगा।

वैदिकधर्म एक प्रकारके नैसर्गिक तथा पूर्व योजनापूर्ण स्वतन्त्र विकासका विषय रहा है। अपने वर्तमान रूपमें यह एक जटिल, लम्बी–चौडी, विशिष्ट रूप–रहित अटपटी प्राचीन संस्था है, यद्यपि इसकी कोखमें एक तात्त्विक, सप्राण इकाई है; और वही वस्तुतः 'आर्यत्व' द्वारा इगित धर्म है, ऐसा कहा जा सकता है। वैदिकधर्मकी एकान्त आवश्यकता है उसका पुनर्गठन, उसके बिखरे हुए विचारों और सम्प्रदायों, अशृङ्खलित परिपाटियों और प्रथाओं आदिको एक सुनियोजित अनुक्रममें संजोना। देखना है कि वैदिकधर्म अपने विलक्षण औदार्य और विस्तृत दृष्टिकोणको अक्षुण्ण रखता है, अथवा अपने नव सगठन–जनित उत्साहकी भूमिकामें संकुचित अहंकारकी धाराओंमे बह जाता है, अथवा विश्वमें एक रूप, मत और आराधनाके हेतु वह एक विस्तृत आन्दोलनके नितान्त सक्रिय रूपको धारण कर लेता है।

श्री श्री. रा. टिकेकर

पंडित मोक्षमूलर भट्ट

(जन्म – ६ दिसम्बर १८२३)
(मृत्यु – २९ अक्टूबर १९००)

☆

[वैदिकसाहित्यको समृद्ध तथा अन्तर्जगत्में लोकप्रिय बनानेके कार्यमें आचार्य सायण, महर्षि दयानन्द, योगी अरविन्द आदि भारतीय मनीषियोंका जो महान् योगदान रहा है, उतना ही योगदान ग्रिफिथ, विलसन, मॅकडॉनल, वाल्टेयर आदि अनेक पाश्चात्य मनीषियोंका भी रहा है। ऐसे पाश्चात्य मनीषियोंमें जर्मनीमें उत्पन्न प्रो मेक्समूलर सर्वतोपरि हैं। उन्होंने अपने अनथक प्रयत्नोंसे विदेशोंमें वेदोंका प्रकाशन करके वैदिक संस्कृतिके प्रसारका जो महान् कार्य किया, वह स्वयंमें अनुपम और विलक्षण है। यह मनीषी जर्मनीमें उत्पन्न हुआ, और उसने नागरिकत्व प्राप्त किया एक ब्रिटेननिवासीके रूपमें, पर इसका सारा जीवन सम्बन्धित रहा भारतसे, संस्कृतसे और वैदिकसाहित्यसे।]

× × ×

" समाजमें मेक्समूलरके व्याख्यानोंकी बडी चर्चा रही, पर वे वस्तुतः खानेकी मेज पर हुए वार्तालाप थे। "

—दी टाइम्स (लन्दन)

☆

भगवान्की वाणी वेदोंका गंभीर अध्ययन जगत्के अनेक देशोंमें किया गया। जगत्के अनेकों देशोंमें अनेकों विद्वान् इस वेदवाणीके भक्त हुए, पर उनमे कोई भी इतना प्रथितयश नहीं हुआ जितना कि फ्रेडरिक मेक्समूलर। संस्कृत भाषाको विदेशोंमें इतना लोकप्रिय बनाने तथा यूरोप अमेरिका तथा अन्य देशोंमें संस्कृतके अध्ययन शुरु करानेका अधिकांश श्रेय मेक्समूलरके हिस्सेमें ही जाता है।

मेक्समूलरका जन्म जर्मनीमें हुआ, पर उन्होंने ऑक्सफोर्ड (इंग्लॅड) में रहकर कार्य किया। संस्कृतसाहित्यको सामान्यतया तथा वैदिकसाहित्यको विशेषतया उनकी देन हिमालयवत् है। उन्होंने ही सर्वप्रथम ऋग्वेदको सायणभाष्य सहित देवनागरी लिपिमें प्रकाशित किया था। गोकि इस ग्रंथका मुद्रण ऑक्सफोर्डमें हुआ था, पर वह कार्य बडी ही सावधानीसे किया गया। इस ग्रंथका प्रकाशन इस दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है कि उस कालमें वेदमुद्रणके कार्यमें विदेशियोंकी सहायता करनेके लिए कोई भी भारतीय वेदपंडित तॅय्यार नहीं होता था।

संस्कृतको एक मृतभाषाके रूप सम्बोधित करनेकी आदत सी पड गई है और आज अनेक प्रान्तीय सरकारोंमें अपने अपने प्रान्तोंमें इस भाषाके अध्ययनको समाप्त कर देनेकी होड सी लगी हुई है। पर यह संस्कृतकी अपरिमेय शक्ति ही तो है कि यह आज भी अपनी मृतावस्थामें भी सुदूर देशोंसे विद्यार्थियोंको अपनी ओर आकृष्ट करता है। यह संस्कृत – विद्याकी अलौकिक शक्ति ही तो है कि उसने जर्मनीमें मेक्समूलर जैसे तरुणोंको संस्कृत सीखनेकी प्रेरणा दी, उसे संगीत – विद्याको छोडकर संस्कृत – विद्याको सीखनेके

लिए बाध्य किया, इतना ही नहीं, अपितु ऋग्वेद आदि वैदिकग्रंथोंके प्रकाशन कार्यके प्रति भी उत्साहित किया। साधारणतया सारे जगत्के विद्वान् विशेषकर भारतीय विद्वान् इस जर्मन-ब्रिटिश प्राच्यविद्याविज्ञके सदा ऋणी रहेंगे। इसका संस्कृतभाषा पर इतना अपार प्रेम था कि यह अपने हस्ताक्षर मेक्सम्लरके बजाए सदा मोक्षमूलर भट्ट ही किया करता था।

भारतकी इस मृतभाषाके प्रति जर्मनविद्वानोंका प्रेम एवं उत्साहका वृत्त जाननेके लिए हमें १९ वीं शताब्दीके पहले पच्चीस वर्षों या उससे भी पूर्वके इतिहासका निरीक्षण करना होगा। कालिदासके "अभिज्ञान शाकुन्तल" का जर्मनभाषामें अनुवाद सर्वप्रथम १७९१ में प्रकाशित हुआ था। इस अनुवादने जर्मनीनिवासियोंमें संस्कृतभाषा तथा इस मूल ग्रंथके लेखकके प्रति जिज्ञासा या उत्सुकता उत्पन्न कर दी। बुद्धिशाली जर्मनोंमें भारत, भारतीयता, भारतीय मंदिर और भारतीय नदियोंके बारेमें जाननेकी बडी उत्सुकता जाग पडी। पर जर्मनीनिवासियोंको संस्कृत सीखनेके लिए कुछ समय और लग गया। १८०२ सनमें भारतसे गए हुए अॅलेक्जेण्डर हेमिल्टन नामक एक अंग्रेज अफसरको पेरिसमें नजरबंद कर दिया था, क्योंकि उन दिनों फ्रांस और इंग्लैंडके बीच हर तरहकी गतिविधियोंपर प्रतिबंध लगा दिए गए थे। हेमिल्टनको थोडा बहुत संस्कृतका ज्ञान था, इसलिए, फ्रे श्लेगेलने इस नौदलके अफसरसे मिलनेकी कोशिश की। वस्तुतः श्लेगेल हेमिल्टनसे प्रतिदिन तीन घंटे संस्कृत पढा करता था। इस घोर परिश्रमके परिणामस्वरूप भारतीय भाषाओं और ज्ञानके बारेमें एक पुस्तक सन् १८०८ में प्रकट हुई। उस समय भारतकी इस मृतभाषाके प्रति जर्मनोंके अभिरुचि लेनेकी एक शुरुआत – सचमुच एक छोटीसी शुरुआत थी। बस वर्षोंके बाद बोन विश्वविद्यालयमें सर्वप्रथम प्राच्यविद्यापीठ स्थापित हुआ, उसके अध्यक्ष पदके लिए ऑगस्ट विल्हेमको आमंत्रित किया गया।

ऐसे वातावरणमें, जब कि अदृश्य लहरों द्वारा शैक्षणिक वायु संस्कृत तथा तद्‌गत महान् ग्रंथोंके अनुकूल प्रेरित की जा रही थी, सन् १८२३ में मेक्समूलरका जन्म हुआ था। यह एक अद्वितीय बात है कि अपने ज्ञान तथा कठोर परिश्रमकी सहायतासे मेक्समूलरने २० वर्षकी अवस्थामें ही एक थीसिस लिखकर डॉक्टरेटकी डिग्री हासिल कर ली उसकी थीसिसकी अपेक्षाभी अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उसके द्वारा हितोपदेशका जर्मनमें अनुवाद था, जो १८४४ में प्रकाशित हुआ। संस्कृत भाषाको सीखनेमें उसकी हार्दिक अभिलाषा यह थी कि वह शोपनहॉवरके इस कथनका खण्डन कर सके कि वेदोंका एक हिस्सा पुरोहितोंके निरर्थक प्रलापोंसे भरा हुआ है। इसी अभिलाषाने मेक्समूलरको संस्कृतमें प्रवीणता प्राप्त करनेकी प्रेरणा दी।

इस उगते हुए सितारेको जब जैसी सहायताकी आवश्यकता पडी, तब तैसी सहायता उसे फ्रेंज् बॉप तथा फ्रेडरिक रॅकर्टसे मिली। इसीका परिणाम था कि वह उगता हुआ सितारा आगे जाकर साहित्यके क्षितिजमें एक जाज्वल्यमान सितारा बन गया।

बर्लिनमें रहकर अध्ययन पूरा कर चुकनेके बाद मेक्समूलर सन् १८४५ में पेरिस चले गए। यहां आकर मेक्समूलरने अपनी शैक्षणिक योग्यतासे बर्नफको अत्यधिक प्रभावित किया। यहां विद्वानोंके मध्य बौद्धमत तथा वैदिक – साहित्यके बारेमें खूब परिचर्चायें हुआ करती थीं। "हिम्स ऑफ दी ऋग्वेद" (ऋग्वेदके सूक्त) पर बर्नफ द्वारा दिए गए व्याख्यानोंने मेक्समूलरके उगते हुए विचारोंके लिए एक नई ही दिशा खोल दी। इसप्रकार सायणभाष्यसमेत सम्पूर्ण ऋग्वेदके प्रकाशनके महान् कार्यकी नींव डाली गई।

"सायणभाष्यसहित ऋग्वेद" इन शब्दोंका उच्चारण करना बहुत ही आसान है। पर उस कार्यके विस्तारकी कल्पना इक्के दुक्के लोगोंको ही होगी। इस प्रकाशन कार्यके लिए स्वयं आर्थिक सहायता देनेवाले या अन्योंसे दिलवानेवाले तो बहुतही थोडे थे। पहले यह प्रयास किया गया कि जर्मनीमें ही कोई राजा या अनेक राजा इस कार्यमें आर्थिक सहायता देनेके लिए तैय्यार हो जाए। पर उस राज्यके अध्यक्षने इस कार्यमें कोई अभिरुचि नहीं दिखाई। अतः मेक्समूलर इस वैदिकग्रंथ – प्रकाशनकी योजनाकी पूर्तिके लिए किसी दानी या आर्थिक सहयोग देनेवालेकी खोज करने लगे।

मेक्समूलर पेरिससे लन्दन चले गए और उनके सौभाग्यसे उनकी मुलाकात सेण्ट जेम्सके कार्यालयमें सी. के. जे बन्सन नामक एक जर्मन राजदूतसे हुई। इस तरुण नवयुवकको इस अभिलषित कार्यके प्रति उनके हृदयमें सहानुभूति जगी।

उन्होंने ईस्ट इण्डिया कंपनीके डाइरेक्टरोंसे बात की और ईस्ट इण्डिया कंपनीने उस प्रस्तावको स्वीकार कर लिया। कंपनीने मेक्समूलरके द्वारा सपादित सायण भाष्य-सहित ऋग्वेदके सम्पादन तथा प्रकाशनकार्यके खर्चको देना मंजूर कर लिया। मेक्समूलरकी आयु उस समय सिर्फ २३ वर्षकी थी।

ऑक्सफोर्डमें मुद्रणालयके पास घण्टोंतक घोर परिश्रम करके मेक्समूलरने सन् १८४९ में ऋग्वेदभाष्यका पहला भाग प्रसिद्ध किया। हजार छपे हुए पृष्ठोंसे भी अधिक पृष्ठोंवाला यह ग्रंथ ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसमें छपा। यह ग्रंथ ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा प्रकाशित होकर ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंडकी तत्कालीन साम्राज्ञी विक्टोरियाको समर्पित किया गया था।

उस समयके राजनीतिक क्षेत्रमें ब्रिटेनकी स्थिति, विशेषकर योरोपीय देशोंके राजदूतावासोंमें गुप्त रूपसे होने वाली आपसी स्पर्धा, उस ग्रंथका, जिसका छठा भाग भी असाधारण रीतिसे विशाल बन गया था, अपना महत्त्व इन सभी बातोंने ससारभरके मनीषियोंके ध्यानको संस्कृतभाषा पर और विशेषकर ऋग्वेद पर केन्द्रित कर दिया। यदि यह ग्रंथ ब्रिटेनमें मुद्रित न होकर जर्मनी, फ्रांस या रूसमें या अन्यत्र मुद्रित हुआ होता तो भी वह इतने अधिक विद्वानोंका ध्यान अपनी तरफ आकर्षित कर सकता था, यह बात संदिग्ध ही है। इस ग्रंथकी प्रसिद्धिने मेक्समूलरको ऐसी स्थितिपर पहुंचा दिया कि उसके इस कार्यमें सब लोग अभिरुचि लेने लगे और उस पर चारों ओरसे प्रशस्ति पत्रोंकी बरसात बरसने लगी।

अवशिष्ट भागोंकी छपाई भी धीरे धीरे होती रही। भारत और इंग्लेंडके बीच डगमगानेवाली राजनैतिक परिस्थितियोंके कारण इस कार्यमें विलम्ब लगा। आखिर कार १८७४ में अनेक विघ्नों और विलम्बोंके बावजूद भी ऋग्वेदभाष्य पूर्णतया मुद्रित हो गया। इस कार्यकी पूर्णतासे ग्रंथकार तथा इस अमोल ग्रंथके पाठकोंको जो प्रसन्नता हुई रही होगी, वह कल्पनासे बाहरकी बात है। १८४९-१८७४ के दरम्यान अभी तक एक अज्ञात अथवा अल्पज्ञात संस्कृत ग्रंथके ७३०० पृष्ठ छपे। इस ग्रंथके मुकुटमें एक मणि तब और जुड गया, जब ग्रंथकारने इसे मानवजातिका आदिग्रंथ घोषित किया।

इन सभी कारणोंसे ससार भरके अध्ययनेच्छु मनीषियोंने इस नई भाषामें अभिरुचि लेनी शुरु की। साथ ही एक साम्राज्य द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायतासे ब्रिटिश राजधानीसे प्रकाशित यह नवीन तथा विस्तृत ग्रंथ भी उनकी अभिरुचिका एक केन्द्र बन गया। इसी दरम्यान ग्रेट ब्रिटेनकी रानी भारतकी भी साम्राज्ञी बन गई।

यह समय ऐसा था कि जब सैनिक प्रशासक मृत्युके व्यापारियों द्वारा दिए गए शक्तिशाली और नवीनतर शस्त्रोंसे अपने अपने देशोंको सम्पन्न करनेमें लगे हुए थे। ऐसे नाजुक समयमें भी मनीषी और विद्वान् मेक्समूलरके इस ग्रंथराजके अध्ययनमें गर्क रहते थे। उन्होंने इस नवीन भाषाके अध्ययनको एक आह्वानके रूपमें स्वीकार किया। मेक्समूलरने यह दावा किया था कि संस्कृत सब भाषाओंकी जननी है और ऋग्वेद मानवजातिका आदिग्रंथ है। पर कुछ विद्वान् मेक्समूलरके इस दावेको झुठलानेके प्रयत्नमें लगे हुए थे।

इसी दरम्यान मेक्समूलर अन्य पुस्तकोंके लेखन कार्यमें व्यस्त रहे। ऋग्वेद भाष्यके प्रथम संस्करणके छठे और अन्तिम भागके प्रेससे बाहर पडने तकके समयके दौरान करीब करीब दो दर्जन पुस्तकें छप चुकी थीं।

तुलनात्मक देवशास्त्र (Comperative mythology, 1856) भाषा विज्ञान (Science of language, 1861) भाषाका क्रमनिर्धारण (Stratification of language, 1868), ये तीन पुस्तकें मेक्समूलरकी विशेष ख्यातिप्राप्त पुस्तकें साबित हुई। पर उनकी लेखनीसे निकली हुई " पूर्वके पवित्र ग्रंथ " (Sacred books of The East) की माला सचमुच अद्वितीय सिद्ध हुई। ऋग्वेदके साथ मेक्समूलरकी यह ग्रंथमाला ससारके लिए एक महान् देन है। १८९०-९२ सनमें एक भारतीय राजकुमारके द्वारा प्रदत्त सहायतासे ऋग्वेदभाष्यका दूसरा संस्करण प्रकट हुआ। इस बार जरा छोटे टाइपका उपयोग होनेसे सम्पूर्ण ऋग्वेद-भाष्य ६ भागोंके बजाए ४ भागोंमें समा गया।

× × ×

भारत और भारतीयोंके प्रति मेक्समूलरका अपार प्रेम था। ब्रिटिश दरबारमें राजकुमारके एक मित्रके रूपमें मेक्समूलरका विशेष सम्मान था। इसके साथ ही इतर

राजनीतिज्ञोंके साथ उन पर भी लोगोंका सन्देह था। पर चूंकि साम्राज्ञी विक्टोरिया उनके साथ समादरपूर्वक व्यवहार करती थी, इसलिए उन पर लोगोंका सन्देह वन्ध्यावत् ही था। कमसे कम एक ब्रिटिश प्रधानमत्रीके साथ मेक्समूलरके सम्बन्ध घनिष्ठ थे। उन दोनोंके पत्रव्यवहार परसे ज्ञात होता है कि मेक्समूलर एक उच्चकोटिके राजनैतिक विचारक भी थे। सन् १८९९ में मेक्समूलर द्वारा लॉर्ड कर्जनको लिखा गया एक पत्र मेक्समूलरके साहसका निदर्शक है, उसमें मेक्समूलरने उस अभिमानी लॉर्डको लिखा था कि भारतीयोंके साथ समानताका व्यवहार किया जाना चाहिए। वस्तुतः वह पत्र स्पष्ट रूपसे दिए गए नीतिपूर्ण हिदायत तथा विद्वत्ताका सम्मिश्रण है। जब ब्रिटिशशासन साम्राज्यवादी नीतिकी ओर बढ रहा था, उस समय मेक्समूलरकी नीति ज्यादा उन्मुक्तता और स्वतन्त्रताको प्रश्रय दे रही थी। उन्होंने अपने विचारोंको कभी छिपाया नहीं, अपितु भारतमें ब्रिटिश साम्राज्यके बारेमें उन्हें जो कुछ भी अनुभवमें आया, उस अनुभवको उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें लोगोंके सामने रख दिया। यह मेक्समूलरकी शक्तिशाली और स्पष्टवक्तृताका एक अनोखा उदाहरण है। मेक्समूलरने लिखा था –

" जब मैं किसी सरकसमें एक आदमीको देखता हूँ कि जो अपने दोनों हाथ फैलाये दो घोडों पर खडा है, और उसके दोनों कंधों पर दो आदमी खडे हैं और उन दोनोंके कंधोंपर एक तीसरा आदमी चढा हुआ है और उस तीसरे आदमी पर भी एक छोटा बच्चा खडा या बैठा हुआ है, और वे दोनों घोडे रिंगमें चक्कर लगा रहे हैं, तो मुझे ऐसा लगता है कि मैं भारतमें ब्रिटिश सरकारको ही देख रहा हूँ। " क्या इस स्पष्ट कथन पर भी किसी टीका–टिप्पणीकी जरूरत रह जाती है ?

× × ×

मेक्समूलरकी इतर उपलब्धियां या विद्वत्ता चाहे कितनी भी रही हों, पर मानसिक रीतिसे मेक्समूलरको पूरा भारतीय मानना पडेगा। उन्होंने अपनी अभिलाषा इस प्रकार व्यक्त की है –

" जिस तरह साहित्यके मनीषी रोम और एथेन्स जानेके लिए उत्सुक रहते हैं, उसी तरह मैं बनारस जाने और वहाँ गंगाके पवित्र जलमें डुबकी लगानेके लिए सदा उत्सुक रहता हूँ। " एक दूसरे प्रसंगमें मेक्समूलरने घोषणा की थी–

" मैं यही अनुभव करता हूँ कि मैं सदा बनारसमें ही हूँ। ऑक्सफोर्डमें इस घरको ही बनारसके रूपमें कल्पित करनेमें मुझे बडा आनन्द आता है। मैं अपनी भौतिक आँखोंसे भौगोलिक बनारसको देखना नहीं चाहता। उस नगरीके बारेमें मेरी कल्पनायें इतनी ऊंची हैं, कि मैं उन कल्पनाओंको ढहा देनेके खतरेमें नहीं पडना चाहता। '

× × ×

उस जर्मन–आंग्ल पंडितको नमन। भारत तथा संसार पर उसके जो ऋण हैं, वे मापनातीत हैं। उनके गंभीर विद्वत्ता तथा आदर्शोंका स्मरण करके ही हम उसके विस्तृत सांस्कृतिक ऋणको आंशिकरूपसे प्रदान करनेका प्रयत्न करते हैं।

माता न केवल हमारा पोषण ही करती है, अपितु वह एक आदर्श उदाहरण भी प्रस्तुत करती है। उस उदाहरणके अनुसार मनुष्यको अपने जीवनके अस्तित्वके लिए नहीं, अपितु दूसरोंके अस्तित्वके लिए संघर्ष करना होता है। इस उदाहरणमें " जीओ और जीने दो " का सिद्धान्त निहित है। यह सिद्धान्त वैदिकसंस्कृतिका आदर्श वाक्य है।



डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर एम्. ए., डी. लिट्.

ऐतरेय महीदास और निरामय दीर्घजीवनकी साधना

☆

[वेदोंमें ११६ वर्षकी आयुको "पुरुषायु" बताया गया है। उतनी आयु तक जीना पुरुषका हक है, किसीकी मेहरबानी नहीं। सिर्फ मनुष्य उत्तम आदर्शोंका पालन करता जाए। इस आयुको तथा उत्तम वीरपुत्रको प्राप्त करनेका उपाय ऐतरेय ग्रंथमाला (ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्) के कर्ता ऐतरेय महीदासने अपने ग्रंथोंमें बताया है कि अमुक मन्त्रका ध्यान-पूर्वक जप करनेसे वीर-पुत्रकी प्राप्ति हो सकती है, तो अमुक मंत्रको जपनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति हो सकती है। प्रस्तुत लेखमें उस कर्ताके जीवनके तथा उन उपायोंके बारेमें स्पृहणीय विचार प्रस्तुत किए गए हैं।]

卐

हृदयस्वर्गके द्वारपाल

राजमंदिरमें सुखसे प्रवेश पानेके लिए द्वारपालकी प्रसन्नता संपादन करना आवश्यक होता है। द्वारपालके प्रसन्न होने पर राजभवनमें प्रवेश करनेमें कोई कठिनाई नहीं रहती। उसी प्रकार दहराकाश अर्थात् सूक्ष्म आकाशसे अवच्छिन्न ब्रह्मलोकमे याने हृदयरूप स्वर्गमें प्रवेश पानेके लिए वहाँके द्वारपालोंको प्रसन्न करना अत्यावश्यक है। हृदयरूप स्वर्गके पांच महाद्वार होते हैं और उनके पाच द्वारपाल रहते हैं। प्राण-आदित्य, व्यान-चन्द्र, अपान-अग्नि, समान-पर्जन्य और उदान-आकाश यह पांच हृदयस्वर्गके पांच द्वारपाल वेदान्तशास्त्रमें माने गए हैं। इन पांच द्वारपालोंको प्रसन्न करने वाला हृदयस्थ परमात्माके समीप शीघ्र पहुंच सकता है। और विशेष अवान्तर फल याने उस साधकके वंशमें वीरपुरुष उत्पन्न होता है। "अस्य कुले वीरो जायते" ऐसा श्रुतिमाताका अभिवचन है (छांदोग्य अ. ३, खं १३, मं ६)।

वीरपुत्र

वेदाध्ययन और सत्कर्माचार करने वालेको वैदिकोंकी परिभाषामें "वीरपुत्र" कहते हैं। ऐसा वीरपुत्र, "लोक्य" याने पिताका अभीप्सित लोक प्राप्त करा देनेमें समर्थ होता है। (तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः। बृह० अ. १-५ मं १७)

वंशमें इस प्रकार "लोक्य वीरपुत्र" का उत्पन्न होना वैदिकोंकी दृष्टिसे परमभाग्यकी बात मानी गयी है।

परंतु इस वीरपुत्र को दीर्घायु अगर न मिले तो कोई लाभ नहीं। अतः दीर्घायु देने वाला 'कोशविज्ञान' छान्दोग्य श्रुतिमे (अ. ३, ख १५ और १६) सविस्तर बताया है।

महर्षि ऐतरेय महीदास

ऐतरेय महीदास नामक वैदिक ऋषिने इस कोशविज्ञान की साधनासे एकसौ सोलह वर्षोंकी दीर्घायु प्राप्त की थी।

यह ऐतरेय महीदास ऐतरेय उपनिषद्में उल्लिखित

इतरा नामक स्त्रीका पुत्र था। वैदिक वाङ्मयमे ऐतरेय नामकी कुछ विशेषता दिखाई देती है। ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय उपनिषद् इन तीन वैदिक ग्रन्थोंसे ऐतरेय नामका संबंध जुडा हुआ है।

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदका ब्राह्मणग्रंथ है। इस ब्राह्मण ग्रन्थको 'ऐतरेय' यह विशेषण लगनेका कारण सायणभाष्यमें कथाके रूपमें बताया गया है।

किसी एक महर्षिकी अनेक भार्याओंमे इतरा नामक एक भार्या थी। इतराका पुत्र महीदास अत्यत बुद्धिमान् होते हुए भी पिताका प्रेमभाजन नहीं था। ऋषिका प्रेम महिदासके सपत्न भाइओं पर अधिक था। एक बार महर्षि अपने सब पुत्रोंके साथ किसी यज्ञ समारोहमें गए थे। उस समारोहमें ऋषिने महिदासके अतिरिक्त अपने अन्य पुत्रोंको गोदमें लिया। बालक महिदास दुःखित होकर अपनी माताकी ओर लौट आया। दुःखित इतराने अपनी कुलदेवता भूमातासे करुणा याचना की। उस प्रार्थनासे द्रवित भूमाता प्रत्यक्ष आविर्भूत होकर महिदासको साथ लेकर यज्ञसभामें जा पहुंची और उस बालकको उत्कृष्ट सिंहासन पर बिठाकर उसने घोषित किया कि, "यह महिदास सारे कुमारोंमें श्रेष्ठ है। यह ब्राह्मण संज्ञक वेदवाङ्मयका द्रष्टा होगा।"

भूदेवीके इस आशीर्वादसे ऐतरेय महिदासके अन्तःकरणमें "अग्निर्वै देवानामवमः" इस मन्त्रसे लेकर "स्तृणुते स्तृणुते" इस मन्त्रतक चालीस अध्यायोंसे घटित ब्राह्मणग्रंथ प्रस्फुरित हुआ। यही ब्राह्मणग्रंथ "ऐतरेय ब्राह्मण" के नामसे वैदिक सम्प्रदायमें प्रसिद्ध हुआ।

ऐतरेय आरण्यक

ऐतरेय आरण्यकमें महिदास ऐतरेयका नामनिर्देश "एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेय आह मान्देवेभ्यो वेद ओमद्देवान् वेदेतः प्रदाना ह्येत इतः सम्मता इति (२-१-८)" इस मन्त्रमे मिलता है। आरण्यककी संज्ञासे महिदास ऐतरेय ही उसके द्रष्टा माने जाते हैं। परतु ग्रन्थके अन्तरंगमें महिदास ऐतरेयका नामोल्लेख होनेके कारण विचक्षण गवेषकोंके मनमें कुछ सन्देह निर्माण होता है। ऐतरेय आरण्यकके पांच भागोंसे १,४ और ५ क्रमांकके आरण्यकमें 'महाव्रत' नामक श्रौतविधिका होमसंबंधी विवेचन मिलता है। द्वितीय आरण्यकमें आध्यात्मिक विवेचन और तृतीय आरण्यकमे ऋग्वेदके संहिता, पद, क्रम, अक्षर, वर्ण, स्वर, संधि इत्यादि विषयोंका विवेचन तथा प्रत्यक्ष तथा स्वप्नगत सृष्टिचमत्कार का वर्णन बताया है। इस प्रकार संपूर्ण ऐतरेय आरण्यकमें यज्ञ-विषयक विवेचनका प्रमाणाधिक्य होनेके कारण इसे ऐतरेय ब्राह्मणका ही अवशेष मानते हैं। कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डका संमिश्रण इस आरण्यककी विशेषता है।

ऐतरेय उपनिषद्

ऐतरेय आरण्यक ग्रन्थके द्वितीय आरण्यकमें ही ऐतरेय उपनिषद्का अन्तर्भाव होता है। इसके प्रथमाध्यायमें कहा है कि, परब्रह्मसे जगत् उत्पन्न हुआ। मानव ही परमात्माका अत्युच्च व्यक्त स्वरूप है। मानव शरीरमें इन्द्रिय, मन और हृदय इन तीन स्थानोंमें आत्माका निवास होता है और तदनुरूप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ आती हैं।

द्वितीयाध्यायमें आत्माके त्रिविध जन्म तथा मोक्षके संबंधमें विचार किया है। और तृतीयाध्यायमें आत्मस्वरूपका वर्णन करते हुए प्रज्ञाको ही ब्रह्म कहा है।

इसप्रकार ऐतरेय महिदासके नामसे संबंधित ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद् ग्रंथ वैदिकवाङ्मयमें उपलब्ध होते हैं। तथापि इनमें महिदासके जीवनसे संबंधित विशेष साधनाके बारेमें वह उल्लेख नहीं मिलता, जो हमें छान्दोग्य उपनिषद्के तृतीय अध्यायमें मिलता है।

छान्दोग्य उपनिषद्के तृतीयाध्यायमें "वीरपुत्र" की दीर्घायुके लिए कोषविज्ञान बताया है और ऐतरेय महिदासने उसकी साधना की थी ऐसा उल्लेख मिलता है।

वैदिक वाङ्मयमे शालावत्य, चैकितायन, जैवलि इत्यादि पितृनिष्ठ नामोंका निर्देश मिलता है। महिदासके नामके साथ पितृनिष्ठ नामका निर्देश न होते हुए माताके नामका निर्देश है। इसका कारण उपरिनिर्दिष्ट कथामें साफ दिखाई देता है। जो पुत्र पिताको अप्रिय और माताको अतिप्रिय था वह अपने नामके साथ पिताके स्थान पर माताके नामका ही अभिमानसे उल्लेख करेगा। महिदासके नामसे संबंधित ऐतरेय यह विशेषण उसकी मातृनिष्ठाको ही सूचित करता है।

पुराणोंमे गांगेय, राधेय इत्यादि नामोंमें और इतिहासमें चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे नाममें उन व्यक्तिओंकी मातृनिष्ठा ही सूचित होती है।

महिदास ऐतरेयने जिस कोशविज्ञानकी साधना की थी, उसका सारांशतः स्वरूप छान्दोग्यमें निवेदन किया है। तदनुसार किसी कोशमें जिस प्रकार सुवर्ण रत्नादि सम्पत्ति जमा की जाती है उसी प्रकार इस कर्मलोकके प्राणीमात्र जो भी कुछ कर्म करते है उससे उत्पन्न फलरूप धन अपने साधन सहित अदृष्टरूपमें किसी एक महान् कोशमे संचित होता है। अपने 'वीरपुत्र' को दीर्घायु प्राप्त होनेके हेतु इस महान् अविनाशी कोषका ध्यान श्रुतिने बताया है। वह ध्यान इस प्रकार है- अन्तरिक्ष याने भुवर्लोक इस कोशका उदर है। पृथ्वी इसका मूल या तलभाग है। यह कोश त्रैलोक्यात्मक होनेके कारण सहस्रावधि युगों तक विद्यमान रहनेवाला है। दश दिशा इसके अन्यान्य कोण है और द्युलोक इसका ऊपरका मुख है।

इस विराट् कोशकी पूर्व दिशाको 'जुहू' कहते है। इस संज्ञाका कारण जगद्गुरु शंकराचार्य अपने भाष्यमें कहते है- "कर्मनिष्ठ लोग पूर्वदिशाकी ओर मुख रखते हुए हवन-क्रिया करते है अत इस पूर्व दिशाको 'जुहू' नाम दिया गया।'

इसकी दक्षिण दिशाका 'सहमाना' नाम है जिसका कारण श्री शंकराचार्य बताते है :- 'सहन्ते अस्यां पाप कर्मफलानि यमपुर्यां प्राणिनः इति सहमाना नाम दक्षिणा दिक्।" इस दिशामें यमपुरीमे प्राणी अपने पापकर्मोंके फल सहन करते है अत इस दक्षिण दिशाको 'सहमाना' यह संज्ञा प्राप्त हुई है[२]

पश्चिम दिशामें वरुण राजाका अधिष्ठान होनेके कारण अथवा सध्या समयमें यह दिशा सौभाग्यवती स्त्रीके समान रक्तवर्ण धारण करती है इस कारण उसे 'राज्ञी' कहते है। और उत्तर दिशामें मूर्तिमान् (ऐश्वर्यशाली) ईश्वर कुबेर इत्यादिका अधिष्ठान होनेके कारण उसे "सुभूता" सज्ञा प्राप्त हुई।

जुहू, सहमाना, राज्ञी और सुभूता यह पूर्वादि चार दिशाओंकी चार वैदिक सज्ञाएं है। श्री शंकराचार्यने निरुक्तिके आधार पर इन चार वैदिक संज्ञाओंके कारण बतानेका स्पृहणीय प्रयत्न किया है।

छान्दोग्यके प्रतिपादनानुसार जुहू, सहमाना, राज्ञी और सुभूता नामक (क्रमश पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर) दिशाएँ उस प्रस्तुत महान कोशके चतुष्कोण है। इन चार दिशाओंका 'वत्स' = पुत्र वायु माना गया है। वायुको दिशाओंका पुत्र कहनेके कारण पश्चिमवायु, दक्षिणवायु इत्यादि व्यावहारिक शब्द प्रयोग माने गये है।

दीर्घायुके लिए वायुकी उपासना

अपना "वीरपुत्र" दीर्घायु हो इस प्रकारकी इच्छा रखनेवालेके लिए दिक्पुत्र वायुकी उपासना श्रुतिने विहित की है। जो साधक ज्ञानपूर्वक वायुकी उपासना करता है, उस पर पुत्रनिमित्त रोनेकी आपत्ति नहीं आती। वायुकी उपासनाका पुण्यफल जबतक विद्यमान रहता है तबतक उपासकके पुत्रको मृत्यु स्पर्श नहीं कर पाती।

इस सबधमें ऐतरेय महिदास अपना अनुभव घोषित करते है कि, "वायु दिशाओंका पुत्र है यह ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है और इसी कारण पुत्रनिमित्त रोदन करनेका सकट मुझपर नही आया"।[३]

जपनीय मन्त्र

इस प्रकार 'वीरपुत्र' की दीर्घायुके निमित्त दिक्पुत्र वायुकी उपासनाका विधान बतानेपर अगले मत्रमे उसी वायूपासनाके अगभूत जपका विधान किया है। उस जपनीय मन्त्रका भावार्थ इतना ही है कि — 'मै उस पुत्रके लिए अरिष्ट कोश अविनाशी कोश तथा प्राण, भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोककी शरणमे जाता हूं।' मूल मन्त्रमें 'अमुना' शब्दकी तीन तीन बार आवृत्ति की है इसका कारण श्रीशंकराचार्यके मतानुसार पुत्रके दीर्घायुकी उत्कट इच्छा हो सकती है अथवा स्थूल, सूक्ष्म, और कारण तीन प्रकारके देह होनेसे तीनों देहोंकी दीर्घायुकी मनीषा हो सकती है।

छांदोग्यमें इस मन्त्रके बाद ४, ५, ६, और ७ इन चार मन्त्रोंमें जपनीय मन्त्रमें प्राण, भूः, भुवः और स्वः इन चार शब्दोंके उच्चारणका प्रयोजन बताया है। वह प्रयोजन संक्षेपतः इस प्रकार है :—

---

१ जुहृत्यस्यां दिशि कर्मिणः प्राङ्मुखाः सन्त इति जुहूर्नाम। (शंकराचार्य छान्दोग्यभाष्य)

२ सहन्ते अस्यां पापकर्मफलानि यमपुर्यां प्राणिनः इति सहमाना नाम दक्षिणा दिक्। (शंकराचार्य छान्दोग्य भाष्य)

३ सोऽहं एतं वायु दिशा वत्स वेद। मा पुत्ररोद रुदम्। (छा. ३-१५-२)

४ मूलमन्त्र इस प्रकार है - "अरिष्टकोश प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। (छां. अ. ३, ख १५, म ३)

प्राणः = स्थावर – जंगम जगत् ।
भूः = पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग ।
भुवः = अग्नि, वायु और आदित्य ।
स्वः = ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ।

मन्त्रस्थ प्राणादि शब्दोंके अर्थ श्रुतिके अनुसार उक्त प्रकार होते हैं । अत जपनीय मन्त्रमें जब उपासक 'मैं प्राणादिकी शरणमें जाता हूँ ' इस अर्थका वाक्य उच्चारण करता है तब उसका अर्थ मैं स्थावर–जगम जगत्, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, इत्यादि ११ तत्त्वोकी शरणमें जाता हूं ऐसा होता है ।

प्रस्तुत जपनीय मन्त्रका जप केवल शब्दोच्चारके स्वरूपमें न करते हुए, उपरिनिर्दिष्ट अमृतकोश और विश्वपुत्रवायु इनका ज्ञानयुक्त ध्यान करते हुए करना चाहिए ऐसी श्री शकराचार्यकी इस विषयमें सूचना है । [५]

ऐतरेय महिदासने वीरपुत्रको दीर्घायु देनेवाली उपरिनिर्दिष्ट उपासना की और उसका फल भी पाया था । साथ ही उसने अपनी दीर्घायुके लिए भी वैदिक–साधना की थी और उसके फलस्वरूप एकसौ सोलह वर्षोंकी दीर्घायु प्राप्त की थी । वैदिक धारणाके अनुसार एकसौ सोलह वर्षोंकी दीर्घायु को " पुरुषायुष् " कहते हैं ।

पुरुषजीवन और यज्ञमें साधर्म्य

' पुरुषायुष्य ' प्राप्तिकी साधनामें जीवन (याने आत्मतत्त्वयुक्त इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण इत्यादि साधनोंसे युक्त देह) यह एक यज्ञ है ऐसी धारणा करनी पडती है । यह देहयज्ञ (अथवा जीवनयज्ञ) की धारणा अन्तःकरणमें स्थिरपद होनेके लिए पुरुष जीवन और यज्ञ इनमें साधर्म्य देखना पडता है । साधर्म्यज्ञानके बिना एकत्वकी प्रतीति नहीं आती । श्रुतिमें यह साधर्म्य इस प्रकार बताया है—

ज्योतिष्टोम यज्ञमें चौबीस (२४) अक्षरोंके गायत्री छदसे ' प्रात सवन ' करते हैं । [६] चव्वालीस (४४) अक्षरोंके त्रिष्टुभ् छंदसे ' मध्याह्नसवन ' करते हैं और अडतालीस (४८) अक्षरोंके जगती छन्दसे ' सायसवन ' करते हैं ।

मानवजीवनके पहले २४ वर्ष याने ज्योतिष्टोम यज्ञका प्रात सवन, दूसरे ४४ वर्ष याने मध्याह्नसवन और अंतके ४८ वर्ष याने सायंसवन, [७] इस प्रकारकी भावना साधकको जीवनके संबंधमें रखनी चाहिए ।

श्रुतिमें ज्योतिष्टोमादि महान् यज्ञोंमें प्रात सवन, मध्याह्नसवन और सायसवन करते समय क्रमश गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती छद गाए जाते हैं । उनकी अक्षरसख्याके हिसाबसे जीवनके प्रारंभिक २४ वर्ष बाल्यावस्था, २५ से ६८ वर्षतक युवावस्था, ६९ से ११६ वर्षतक वृद्धावस्था मानी गयी है । तीन अवस्थाओंका तीन सवनोंसे साधर्म्य बताकर समग्र जीवनका यज्ञसे साधर्म्य बताया गया है । इस साधर्म्यज्ञानसे ही जीवन और यज्ञमें अभेदकी प्रतीति हो सकती है ।

जीवनयज्ञके प्रातःसवनमें (प्रारंभिक २४ वर्षोंमें) साधकको कोई आधि – व्याधिका उपसर्ग अथवा मरणभय उत्पन्न हो तो उसे क्या करना चाहिए इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुतिने मन्त्रजपका विधान किया है । इस अवस्थामें जो मन्त्र बताया गया है उसका भावार्थ इस प्रकार है— " हे प्राणो ! हे वसुओ ! मेरा यह प्रातःसवन, मध्यन्दिन सवनमें अविच्छिन्नतया विलीन करो ! प्राणरूप वस्तुओंके स्वामित्वमें चलनेवाला मेरा यह जीवनयज्ञ लुप्त न हो । " [८] इस मन्त्ररूप प्रार्थनामें बाल्यावस्थारूप प्रातःसवनको परिपूर्ण करनेको अपेक्षा व्यक्त की है । इस मन्त्रके जपसे और ध्यानसे श्रद्धावन्त उपासक रोगमुक्त होता है, ऐसा अभिवचन श्रुतिमाताने दिया है ।

जीवनयज्ञके माध्यन्दिन सवनमें (२५ से ६८ वर्ष तक) याने तारुण्यावस्थामें उसी प्रकारकी कोई पीडा उपस्थित हो

५ पूर्वोक्तम् अजरं कोश सदिग्वत्स यथावत् ध्यात्वा उपरिष्टात् मन्त्रान् जपेत् । (श्रीशंकराचार्य)

६ प्रात सवन = प्रात कालमें शास्त्रोक्त पद्धतिसे निकाला हुआ सोमरस अग्निप्रमुख देवताओंको समर्पित करना ।

७ २४ + ४४ + ४८ = ११६ । पुरुषायुष्यके ११६ वर्षोंका हिसाब इस रीतिसे बताया गया है ।

८ मूलमन्त्र : " प्राणा वसव इदं मे प्रात सवन मध्यन्दिन सवनमनुसन्तनुत ।
माहं प्राणानां वसूनां मध्ये विलोप्सीयेति । "

तो प्रस्तुत मन्त्रमें वसुके स्थानपर ' रुद्र ' शब्दका प्रयोग कर मन्त्र जप करना चाहिए। ⁹ युवावस्थामें सभी इन्द्रियाँ निष्ठुर होनेके कारण उन्हें ' रुद्र ' संज्ञा प्राप्त होती है।

उसी प्रकार उत्तरावस्थामें (६९ से ११६ वर्ष) पीडा होने पर उसी मन्त्रमें वसुके स्थानमें ' आदित्य ' शब्दका प्रयोग कर जप करना चाहिए। इस अवस्थामें प्राण आदित्यरूप ¹⁰ याने शब्दादि वस्तुजात आकर्षण करनेवाले होते हैं।

ऐतरेय महिदासने इस प्रकार श्रुतिविहित जीवनयज्ञकी साधना की थी जिसके बल पर वह निरामय दीर्घायुशाली होता हुआ रोगादि उपद्रवोंको आह्वानके साथ कहने लगा, " हे रोग ! तू मुझे इस प्रकार क्यों पीडा देता है ? मैं यज्ञ-स्वरूप हूं। तेरी पीडासे मैं नहीं मरूंगा। तेरे श्रम व्यर्थ हैं। ¹¹

ऐतरेय महिदास की इस अद्भुत साधनाका महत्त्व बताते हुए जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य कहते हैं, " जो भी कोई ज्ञानी श्रद्धावान् उपासक ऐतरेय महिदासकी तरह जीवनयज्ञकी उपासना करता है वह एकसौ सोलह वर्षों तक निरामय सुदृढ जीवन जीता है।"

---

९ रुदन्ति रोदयन्ति इति रुद्रा.। (श्रीशंकराचार्य)

१० शब्दादिजातम् आददते इति आदित्याः। (श्री शंकराचार्य)

११ " स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति।

उपनिषद्में एक कथा आती है कि सृष्टिकी पूरी तरह रचनाके बाद प्रजापतिने सृष्टिगत सम्पूर्ण पदार्थोंको मृत्युके ग्रासके रूपमें निश्चित कर दिया, पर ब्रह्मचारीको मृत्युका ग्रास नहीं बनाया। यह जानकर मृत्युको दुःख हुआ। अतः वह शिकायत लेकर प्रजापतिके पास पहुंची और बोली- " प्रजापते ! आपने सृष्टिगत सभी पदार्थ और प्राणिमात्रको मेरा ग्रास निश्चित कर दिया है, फिर ब्रह्मचारीको क्यों नहीं मेरा ग्रास बनाया ? " प्रजापति बोले- " तुम्हारी तो बिसात ही क्या, मेरे अन्दर भी वह शक्ति नहीं है कि जो मैं उसे मार सकूं। फिर भी, यदि कभी ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्यके पालन रूप व्रतमें प्रमाद करेगा, तो वह भी तुम्हारा ग्रास बन जाएगा। " तबसे " ब्रह्मचर्य व्रत " को मृत्युजयी माना जाने लगा है। इस विषयमें ऋग्वेदका कथन है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

" ब्रह्मचर्यरूपी तपकी सहायतासे देवोंने मृत्युको दूर ढकेल दिया।"

डॉ भवानीलाल भारतीय एम. ए. पीएच्. डी

वैदिक विश्ववारा संस्कृति

☆

[जाने अनजाने पाश्चात्य वैदिकमनीषियोंने तथा उनके सिद्धान्तोंके समर्थक अनेक भारतीय मनीषियोंने भी आर्योंको भारतके बाहरका बताकर द्रविडोंको यहांका मूल निवासी बताया। लोकमान्यने तो अपने ग्रंथ 'आर्कटिक होम इन् दी वेदाज' में आर्योंका मूल निवासस्थान उत्तरी ध्रुव बताया। पर पं. रघुनन्दन शर्माने 'वैदिक–सम्पत्तिमें सशक्त शब्दोंमें आर्योंके भारतागमनके सिद्धान्तका खण्डन किया। इस विषय पर आज तक अनेक ग्रंथ लिखे गए, पर 'पंचोंकी राय सिर-माथे, पर परनाला तो वहीं गिरेगा' के मुहावरेको वे सभी मनीषी सार्थक करते हैं, जो आज भी आर्योंके भारतागमनके सिद्धान्तमें विश्वास करते है। प्रस्तुत लेखमे लेखकने फिर उसी प्रश्नको उठाकर डॉ. लक्ष्मणस्वरूपके समर्थनके आधार पर उस प्रश्नके समाधानका प्रयत्न किया है]

☆

यजुर्वेदमें वैदिकसस्कृतिको प्रथमा संस्कृति कहा गया है। (सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा, यजु. ७.४१) यह मानवकी प्राचीनतम संस्कृति है। मानवसभ्यता और संस्कृतिका सर्वप्रथम विकास भारतमें हुआ, यह एक निर्विवाद तथ्य है। पुराणोंमें तो यहां तक कहा गया है कि देवता लोग भी इस भूमिका स्तवन करते हुये इसकी प्रशस्तिका गान करते हैं–

> गायन्ति देवा कलगीतकानि
> धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
> स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते।
> भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
>
> विष्णुपुराण.

पाश्चात्य विद्वानोंने कतिपय वर्षोंसे वैदिकसंस्कृतिकी प्राचीनताको अस्वीकार करते हुये अनेक नये प्रश्न तथा उनके मनमाने समाधान हमारे समक्ष उपस्थित किये हैं। उनका प्रथम आरोप तो यह सिद्ध करनेका था कि आर्यलोग भारतके मूल निवासी नहीं थे। वे स्वयं मध्यएशिया या किसी अन्य स्थानसे चलकर यहां आये, अतः वेदोंपर आधारित उनकी संस्कृतिको प्रथमा सस्कृति नहीं कहा जा सकता। परन्तु आर्योंको बाहरसे आनेकी धारणाको प्रस्तुत करने वाले विद्वान् इस तथ्यको वैदिक वाङ्मय तथा प्राचीन संस्कृतसाहित्यके किसी भी ग्रंथसे सिद्ध करनेमें असमथ रहे हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. लक्ष्मणस्वरूपका यह कथन नितान्त मननीय है. जब वे यह लिखते है—

The Rigveda does not contain slightest direct or indirect reference to any migration of the Aryans into India from outside.

अर्थात् ऋग्वेदके किसी भी अंशसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष यह संकेत नहीं मिलता कि आर्यलोग भारतमें कहीं बाहरसे आये थे।

जब वैदिकसाहित्य स्वयं ही वेदोंके आधार पर जीवन यापन करने वाले आर्योंको इसी देशका मूल निवासी बताता है, पुनः उसे किसी अन्य देशसे आकर बसने वाला तथा यहाँकी आदिम द्रविड संस्कृतिको नष्ट करने वाला बताना पाश्चात्य विद्वानोंका साहसमात्र ही है।

जब हडप्पा और मोहनजोदडोकी खुदाई हुई और सर जान मार्शलने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि यह संस्कृति इस देशके मूल निवासियोंकी संस्कृति है जो आर्योंके भारत आगमनसे पूर्व ही इस देशमें रहते थे। अतः उनकी दृष्टिसे भूमिके उत्खननसे प्राप्त संस्कृतिके जो उपर्युक्त अवशेष प्राप्त हुये वे आर्येतर संस्कृतिके द्योतक हैं। परन्तु डॉ लक्ष्मण स्वरूपने इस धारणाका खण्डन करते हुये लिखा There is nothing in the Rigveda to show that the settlement of the Aryans in the valleys of the above mentioned rivers were recent and had not been there from time immemorial. We have, therefore, to conclude that Rigveda represents a period earlier than the Indus Valley civilisation. अर्थात् ऋग्वेदमें ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध होता हो कि आर्य लोग किसी अन्य स्थानसे आकर सिंधु, गंगा, यमुना तथा पंजाबकी नदियोंके तटवर्ती प्रदेशों पर बसे, वे वहां अनादि कालसे बसे हुये थे। अतः हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पडता है कि ऋग्वेद सिंधुघाटीकी सभ्यतासे पूर्ववर्ती है।

स्वयं जान मार्शलने ही इस सिंधुघाटी सभ्यताके अनुयायीलोगोंके धर्मका भारतीय कहा है तथा उसे वर्तमान हिन्दूधर्मसे अविच्छिन्न ही स्वीकार किया है। वे अपनी पुस्तककी भूमिकामें लिखते हैं— Taken as a whole, their religion is so characteristically Indian as hardly to be distinguishable from still living Hinduism or at least from that aspect of it which is bound up with the cult of Shiva

सिंधुघाटीकी सभ्यता वैदिकसभ्यता और संस्कृतिसे अर्वाचीन है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि ऋग्वेद तथा किसी भी अन्य वैदिकसंहितामें मंदिरोंके निर्माण आदिका उल्लेख नहीं है जब कि सिंधुघाटीकी सभ्यतामें मंदिरोंमें देवताओंकी मूर्तियोंकी पूजाका स्पष्ट विधान पाया जाता है। डॉ. लक्ष्मण-स्वरूपने इसी तथ्यको इस प्रकार प्रस्तुत किया है At mohanjodaro, gods were worshipped in their shrines. Temples must have been built to house the idols. But no shrines or temples are mentioned in the Rigveda. None existed during that period Building of temples and shrines was a later phase of Hinduism, as shown by the epics This also shows that the Rigveda should be assigned to a period earlier than Mohanjo-daro

यह धारणा भी अत्यन्त मिथ्या तथा आधारहीन ही है कि शिव वैदिकेतर देवता थे अतः उनका उल्लेख पाया जाना यह सूचित करता है कि सिंधुघाटीकी संस्कृति वैदिकेतर थी। वस्तुतः रुद्र तथा शिवका उल्लेख वैदिक संहिताओंमें सर्वत्र हुआ है। उसीको पुराणोंने कालान्तरमें एक अत्यन्त स्थूलरूप प्रदानकर देवत्रयीमें स्थान दिया। डॉ. स्वरूपने ठीक ही लिखा है If Shiva is a non-Aryan deity borrowed by the Aryans, then it will have to be assumed that both Vishnu and Brahma were also non-Aryans deities, borrowed by the Aryans अर्थात् यदि हम शिवको आर्येतर देवता माने तो यह भी स्वीकार करना ही पडेगा कि विष्णु और ब्रह्मा भी आर्येतर देवता ही थे। वस्तुतः इन सभी भ्रान्त उपपत्तियोंका निराकरण कर विद्वानोंने यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक संस्कृति ही प्राचीनतम मानवसंस्कृति है। इसे ही वेदने 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' कहा है।

डॉ रामचरण महेन्द्र, पीएच. डी.

वैदिक संस्कृतिका मर्म स्पष्ट करनेवाली कहानी

मृत्युके कालदूत पृथ्वीपर आये

☆

" यह देखो, यह पहला कालदूत असंयम है, यह हरी आंखोंवाली ईर्ष्या, यह लाल नेत्रोंवाला आवेश, यह मोटे पेटवाला लोभ, यह निष्ठुरता, यह अशिष्टता, यह तृष्णा और यह आलस्य हैं। ये आठों जहां रहेंगे, वहां मनुष्य धीरे धीरे स्वयं ही तुम्हारे मुंहमें आजाएंगे। "

" अब मेरा कार्य हलका हो गया। " कहकर मृत्यु संसारमें उतर आई.

☆

मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्या कृत्रिमा शरुः ।
पुरा नु जरसो वधीत् ॥ ऋग्वेद ८।६७।२०

अर्थात् हमारा जीवन इस प्रकार हो कि हम पूर्ण आयु प्राप्त करें। हमारी अकाल मृत्यु न हो, इसलिए हम संयमित जीवन जियें।

उस दिन ब्रह्माजी चिन्तित हो कर कुछ सोच रहे थे। मुख पर चिन्ताके चिह्न काले बादलोंकी तरह उभरे हुए थे! पहली बार वे विचारोंमें डूबे हुए थे!

उनका मुख्य कार्य सृष्टिका नव-निर्माण है। वे सृष्टिके जन्मदाता हैं। अनेक प्रकारके जीवोंको जन्म देना, उनके पालन पोषणकी सुव्यवस्था और विकासकी देखभाल उन्हींके जिम्मे रहती है। बडा ही उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है उनका!

यदि जीवोंके उत्पादन और विकासके क्रममें कमी आजाय, तो सृष्टिका ही अन्त हो जाय! ब्रह्माजीको यही ध्यान रहता कि जीवोंके निर्माणमें कमी न आये। वे अपना सारा समय निकाल सृष्टिको बढानेमें ही लगे रहते। सृष्टि हर प्रकार भरीपूरी रहे, यही उनकी इच्छा रहती थी।

जहां और जीव बढे, वहीं मानव-समुदाय भी बढे- ब्रह्माजीने यह ध्यान रखा था। उन्होंने मानव-समाजके प्रजनन बढते रहनेका उपक्रम किया था। ऐसी मोहक-मादक कामोत्तेजक प्रवृत्तियां प्रोत्साहित की थी कि प्रजनन बढता रहा। मनुष्योंकी संख्या उत्तरोत्तर अभिवृद्धि पर रही। जैसे एक मालीको अपने खेतको लहलहाता, पुष्पित फलित होते देख कर आनन्द होता है, उसीप्रकार ब्रह्माजी मनुष्योंकी संख्या बढते देख कर आह्लादित होते रहते थे। एक समय ऐसा आया कि वे जितनी जनसंख्या चाहते थे, उतनी पूरी हो गई। अब वे संतुष्ट हो गये कि सृष्टिका अन्त नहीं होगा।

लेकिन मूर्ख मनुष्यों ने प्रजनन कर्म पुरानी गतिसे फिर भी जारी रखा। उनकी भोगविलासकी कामुक प्रवृत्तियों पर कोई रोकथाम न रही। वे दिन रात प्रजनन सम्बन्धी निंद्य-कार्योंमें ही लगे रहते, फलस्वरूप जनसंख्या अनापशनाप बढने लगी। भोजनमें कमी पडने लगी ब्रह्माजीने चाहा कि अब जनसंख्या पर कुछ रोकथाम लगे, अन्यथा मनुष्योंको भूखा रहनेको विवश होना पडेगा! वे अपने ही बनाये मनुष्योंको क्षुधा-पीडित देख कर करुणापूरित हो उठे!

आज वे प्रजननके बढते रहनेसे चिन्तित बैठे जनसंख्याके नियंत्रण पर विचार कर रहे थे। "इस अनियंत्रित अभिवृद्धि की रोकथाम कैसे हो?" उनके स्वरमें झुंझलाहट थी!

यकायक क्षितिज पर उदित होती हुई रश्मिकी तरह एक नया विचार उनके मनमें आया, "कोई ऐसी शक्ति हो, जो बरबस जनसंख्या पर नियंत्रण करे। अनापशनाप बढती हुई जनसख्याको रोकनेके लिए कोई ऐसी ताकत हो, जो भोजन और निवासके अनुपातमें जनसंख्याको सन्तुलित कर दे!"

बहुत सोचकर उन्होंने अपने तपोबलसे मृत्युको जन्म दिया! मृत्यु एक नवोढा युवतीके रूपमें ब्रह्माजीके सामने खडी थी। उसने अपने पितामहको आदरपूर्वक प्रणाम किया।

'पितामह! मेरे जीवनका क्या लक्ष्य होगा? मैं इस संसारमें किसलिए पैदा की गई हू?' मृत्युने जिज्ञासा प्रकट की।

'मैं तो संसारका स्रष्टा हूँ। तरह तरहके अच्छे बुरे जीवोंको बनाता रहता हूँ। मैंने तुम्हें भी बना डाला!'

फिर भी मेरे जन्मका कोई तो प्रयोजन होगा ही?' मृत्यु बार बार पूछने लगी।

'तुम जिद कर रही हो!'

'हर व्यक्तिका कोई न कोई लक्ष्य है। जन्मका प्रयोजन है। मेरे जन्मका भी कोई छिपा हुआ गुप्त अभिप्राय होनाही चाहिए?" मृत्युने पूछा

"हां, है तो एक लक्ष्य!"

"वह क्या है, पितामह? मुझे अपना काम बता दीजिए, जिससे खाली आलसमें न बैठकर अपना कार्य प्रारंभ करूं।"

अब ब्रह्माजीको अपना अभिप्राय स्पष्ट करना पडा।

"मनुष्य-लोकमें जनसंख्या बडी तीव्रतासे बढ रही है। प्रतिदिन हरक्षण कीडे मकोडोंकी तरह आदमी बढते जा रहे हैं। यहां तक कि उन्हें भूखे मरनेकी नौबत आ गई है। स्थान तक कम पडने लगा है अब!"

"यह तो आपकी सृष्टि है! आप जितना चाहे बढा सकते है।"

"लेकिन उसमें सन्तुलन भी रहना चाहिए। कुछ नियंत्रण जरूरी है।"

"फिर मैं क्या सहायता कर सकती हू, पितामह? आज्ञा दें।"

मनमें उद्विग्नता लिए टीस भरी आवाजमें ब्रह्माजी बोले, "मनुष्योंकी अनियंत्रित बढोत्तरी न होने पावे, इसलिए तुम सन्तुलन बनाये रखनेकी दृष्टिसे उन्हे मार मार कर परलोकमें भेजती रहा करो।"

"ओफ! ऐसा निंद्य कार्य! लोगोंको मारने जैसा बीभत्स दुष्कर्म! पितामह, यह हिंसाका कर्म तो मुझसे न होगा!"

"यह तो सन्तुलन स्थिर रखनेकी दृष्टिसे है।"

"पितामह, निरपराध जीवोंका वध करना कितना निर्दयतापूर्ण और कुत्सित है!" उसकी जिह्वामें करुणाका स्वर था।

"जो जीव बच जायेंगे, वे सुखी और स्वस्थ रहेंगे।"

"क्या आजीवन मुझे सहारका ही पापकर्म करते रहना होगा?" मृत्युने पूछा। "क्या मुझे नित्य ही असख्योंका अभिशाप ओढना होगा?"

थोडी देरके लिए मृत्यु कुछ आगे न बोल सकी। उसका कंठ भर आया। उसका यौवन और सौन्दर्य आसुओंसे भीग उठा। असंख्य व्यक्तियोंको मारनेकी हिंसक कल्पनाने उसे विचलित कर दिया।

"ओ! तुम तो रोने लगीं!" सिरपर हाथ फेरते हुए ब्रह्माजीने मृत्युको सान्त्वना दी। वे आगे समझाते हुए कहने लगे, "इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। खेतोंसे व्यर्थके झाड झंखाड और खराब घास कूडा भी तो फेंका जाता है। सृष्टिका सन्तुलन स्थिर रखनेके लिए पवित्र कर्म समझकर जनसंख्याके नियन्त्रणका यह कार्य करो। इसमें तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।"

" नहीं, मारने और जीवनपर्यन्त हिंसा ही करते रहनेका यह दुष्कर्म करनेका साहस मुझसे न हो सकेगा। मारनेका काम बडा घिनौना है। उसे करनेकी हिम्मत नहीं बन पड रही है मुझसे! क्या कोई और अच्छा कर्म मेरे भाग्यमें नहीं लिखा है? कुछ शुभ कर्म बताइये मुझे।"

" सृष्टिका नियंत्रण भी बहुत महत्वपूर्ण कर्म है। इसमें तुम्हें पाप न समझना चाहिए। तुम रोओ नहीं, स्थितिको समझो "

मृत्यु रोती ही रही। दुष्कर्म करनेको तैयार न हुई।

" ओ! तुम नेत्रों पर हाथ रखकर लगातार रो ही रही हो! कुछ सोचा तो! यह तो कर्तव्य है। मैंने तुम्हें सर्वोपरी शक्ति बनाया है। तुम्हारे चुगुलसे कोई न बचेगा! तुम जीव-जन्तु किसीको भी न छोडोगी। तुम सबसे ऊपर हो।"

" पितामह, इस नरसंहारसे मुझे घृणा हो रही है।"

मृत्यु अपने चेहरेको हाथोंसे ढके हुए धेनुकाश्रमके समीप वाले बनमें चली गई। वहां जाकर उसने घोर तप करना आरंभ कर दिया।

इस तपस्यासे ब्रह्माजीका आसन डोल उठा।

उन्हें फिर मृत्युकी स्मृति हो आई! वे दयार्द्र होकर धेनुकाश्रम पहुँचे। देखा, वह तपस्यामें तप तपकर आधी हो गई है।

दया और प्रेमसे अभिभूत ब्रह्माजीने प्यारसे उस पर हाथ फेरा और पूछा, " पुत्री! तुम्हारे इस तपकी क्या कामना है? मुझसे कहो। मैं उसे पूर्ण करूंगा।"

" पितामह, मुझसे हिंसा जैसा वह कुत्सित दुष्कर्म न हो सकेगा, जो आपने मुझे करनेको कहा है।"

ब्रह्माजी सुन रहे थे।

" पितामह, मैं निर्दोष प्राणियोंका वध करूं ऐसी बुरी मेरी मनःस्थिति नहीं है। मुझे इस पापसे बचाइये। यही इस तपका उद्देश्य है।"

" जिस उद्देश्यके लिए इसकी सृष्टि की है, यह उसीसे बचना चाहती है। यह तो जटिल समस्या है।" यह सोचकर ब्रह्माजी असमंजसमें पड गये!

उधर जनसंख्या उसी तरह अनियंत्रित गतिसे बढती जा रही थी। उसे रोकना आवश्यक था। वे करते भी क्या? बढती हुई प्रजाके नियमनके बिना सन्तुलन स्थिर रखनेका कोई उपाय ही न था। उधर मृत्यु हिंसाके लिए तैयार न होती थी।

वे कोई दूसरा हल सोचने लगे।

मुस्कराते हुए उन्होंने मृत्युके सामने एक दूसरा विकल्प रख दिया। " देखो, मैं तुम्हारी सहायताके लिए आठ कालदूतोंको पृथ्वी पर भेजता हूं।"

" वे क्या करेंगे?" मृत्युने पूछा

" कालदूत मनुष्योंके मनमें प्रवेश कर उन्हें भीतर ही भीतर खोखला करते रहेंगे।"

" और मारनेका काम कौन करेगा?" आश्चर्यसे मौतने पूछा

" इन कालदूतोंके चंगुलमें फंसे रहनेके कारण वे अपनी आगमें स्वयं ही जलते रहेंगे। इस प्रकार जब वे मरणासन्न हो जायेंगे, तो क्लेशसे शान्ति पानेके लिए मौतको स्वयं ही पुकारने लगेंगे।"

" फिर पाप किसे लगेगा?"

" इस अवस्थामें भला तुम्हें पाप क्यों लगेगा? तुम तो पीडितों और मानसिक रोगियोंको आश्रय दिया करोगी।"

" मेरा यह कार्य पाप या पुण्य, किस कोटिका माना जायगा?"

" तुम्हारा कार्य निष्ठुरताका न रहकर दया और सान्त्वनाका बन जायगा।"

" तब तो ठीक है। यह कार्य पाप न रहे तो मैं करना स्वीकार करती हूं।" उसने कुछ हलकापन अनुभव किया।

ब्रह्माजीने नेत्र मूंद अपने आत्मबलसे आठ कालदूतोंको जन्म दिया। वे बडे विकराल रूपके थे। उनकी आकृति हिंसाके दुष्कर्मसे मिलती जुलती थी।

" यह लो आठ कालदूत। ये तुम्हारी सहायता करेंगे।" ब्रह्माजी बोले।

" इनका परिचय तो कराइये, पितामह!"

" यह देखो, वह पहला कालदूत असंयम है। जो इसके कब्जेमें आ जायगा, वह धीरे धीरे स्वयं तुम्हारे मुंहमें चला आयेगा। वह मनुष्य खानपान, आचार व्यवहार, मद्यपान, जुआ खेलना तनिकसी बातों पर उत्तेजित होना आदि सर्वत्र विनाशकारी परिस्थितियां उत्पन्न करेगा और तुम्हारे मुंहमें आ जायगा।"

" और कौन कौन हैं, ये कालदूत?"

" यह देखो हरी आंखोंवाली ईर्ष्या, यह लाल नेत्रोंवाला आवेश, यह मोटे पेटवाला लोभ, यह निष्ठुरता, यह अशिष्टता, यह तृष्णा और यह आलस्य हैं। ये आठों जहां रहेंगे, वहां धीरेधीरे मनुष्य स्वयं ही तुम्हारे मुंहमें आ जायेंगे।"

" अब मेरा कार्य हलका हो गया।" कहकर मृत्यु संसारमें उतर आई।

डॉ रामजी उपाध्याय डी. फिल्, डी. लिट्.

वैदिक वर्णव्यवस्था का विकास

卐

[व्यवसाय और कर्मोंके कारण नानाविध जातियां मनुष्योंमें सदासे रही हैं। पर वैदिककालमें ये सभी जातियां चार वर्णोंमें बांट दी गई थीं। इन चारों वर्णोंका व्यवसाय बंटा हुआ था और इन व्यवसायोंके कारण ही उनकी श्रेष्ठस्तरता अथवा निम्नस्तरता निश्चित की जाती थी। ये चारों वर्ण आर्यजातिमें ही सम्मिलित हुए माने जाते थे। पर कुछ ऐसी भी जातियां थी, जो आर्येतर थीं, उन्हें पणि, दास, असुर आदि संज्ञाओंसे अभिहित किया जाता था। ये जातियां बादमें जाकर आर्योंमें ही विलीन हो गईं। इस प्रकारका था ऋग्वेद्कालीन समाज। इस समाजका वर्णन लेखकने प्रस्तुत लेखमें किया है।]

卐

भारतीय समाजके समारम्भका प्रथम स्वरूप वैदिक-साहित्यमें मिलता है। आर्योंमें समाज-संघटनकी अद्भुत क्षमता और प्रवृत्ति थी। वे कभी भी 'मैं' और 'मेरा' का प्रयोग नही करते थे। इनके स्थान पर वे 'हम' और 'हमारा' का प्रयोग करते थे। उनकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी उदार थी। उनके शब्दकोशमें सर्व, विश्व, पृथ्वी, भूमा, भूः, भुवः और स्व. की अनुपम प्रतिष्ठा है। उन्होंने यह सीखा ही नही था कि अपनेसे भिन्न भी कही कुछ है। इस विचार पर दृढ रहने वाले आर्योंने पृथ्वीको देवता माना और उसके आदर्श गुणोंको इस प्रकार देखा—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्। अथर्व० १२।१।४५

इस प्रकार वैदिकयुगमें अनेक संस्कृतियोंके अनुयायियों और अनेक भाषाओंके बोलने वालोंमें पृथ्वीरूपी एक घरके सदस्य होनेका विचार विकसित हो चुका था। इसी विचारसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सामञ्जस्य स्पष्ट है।[1]

सामाजिक एकताका दार्शनिक आधार था ब्रह्मसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि सबका उद्भव होना। हमें यहां विचार करना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्गीकरण कैसे हुआ? समाजको एक पुरुषरूपमें मान कर

१. उपर्युक्त विचारके समर्थनके लिये दार्शनिक स्तर पर ब्रह्मसे सबके उत्पन्न होनेका ज्ञान ब्रह्मविद्या कराती थी और पार्थिव स्तर पर 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (अथर्व. १२।१।१२) से सिद्ध होता था कि एक माताकी दृष्टिसे हम सब भाई-भाई हैं। जातविद्याके अनुसार हम सभी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं। ऋग्वेद १०।७१।११ के अनुसार ब्राह्मण जातविद्याका प्रवचन करते थे।

वैदिक ऋषिने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिका स्थान इस प्रकार व्यक्त किया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
(ऋ० १०।९०।१२)

इस सूक्तमें समाज–सौष्ठवके लिये चारों वर्णोंका एक मन होकर कर्त्तव्य पालन करना आवश्यक बताया गया है। यही समाजका आदर्श रूप परवर्ती विचारकोंके समक्ष भी रहा।

वर्गीकरण

ऋग्वेदमें आर्य और दास–दो प्रमुख वर्गोंके उल्लेख मिलते हैं। इस प्रसंगमें वर्णका अर्थ रंग है और ऋग्वेदके उल्लेखोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि त्वचाके रंगकी भिन्नताके आधार पर प्रथम दृष्टिमें आर्य और दासको एक दूसरेसे भिन्न किया जा सकता था। आर्य अवश्य ही गौरवर्णके थे। आर्यके और दासोंका संघर्ष चिरकाल तक रहा। इस युद्धकालमें आर्य-दलके जो नेता देव थे, उनकी चरितगाथा वेदोंमें विस्तारपूर्वक ऋषियोंने गाई।[२] ऋषि आर्योंमें अपने ज्ञान और यज्ञपरायणतासे राष्ट्रचरित्रके निर्माताके रूपमें प्रसिद्ध थे।

ऋषि

वैदिक ऋषि आर्यसमुदायके मनीषी है।[३] इससे यह न समझना चाहिए कि वे केवल बुद्धिवादी थे। समय पडनेपर शत्रुओंका सामना करनेके लिए उनको अस्त्र–शस्त्रके साथ सन्नद्ध होते देर नहीं लगती थी।[४] युद्धभूमिसे लौटनेपर उनकी काव्यप्रतिभा विशेष निखरती थी और वे सूक्तोंकी रचना करते थे। इन वैदिक ऋषियोंको हम धनधान्य सम्पन्न पाते हैं। इनमें लोकैषणा है। जीवनके प्रति इनकी विराग-वृत्ति साधारणतः नहीं है।[५] अनेक ऋषि वीर पुत्र, पशु और धनधान्यकी समृद्धिकी कामना अपनी स्तुतियोंके माध्यमसे देवताओं तक पहुंचाते रहते थे। फिर भी वैदिक ज्ञान–निधिका उत्पादन और संरक्षण अतिशय योग्यतासे उन्होंने किया है। इतनेसे ही सिद्ध होता है कि उनके जीवनमें यदि आधिभौतिक विलासका लावण्य था तो आध्यात्मिक या दार्शनिक ऐश्वर्यका चरमोत्कर्ष भी था।

देवताओं और ऋषियोंमें सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। वे एक दूसरेका संवर्धन करते थे।[६]

ब्रह्मन् या ब्राह्मण

उपर्युक्त ऋषियोंके भाई–बधु थे आर्यवर्गमें ब्रह्मन्। मूलतः ब्रह्मन् बृहस्पति नामक देवसे सम्बद्ध हैं। बृहस्पतिके गुण ब्रह्मन्में है – इसका स्पष्ट परिचय ऋग्वेद ४·५० में मिलता है। देवोंमें जो स्थान बृहस्पतिका था, मनुष्योंमें वही स्थान ब्रह्मन्का था।[७] ब्रह्मन्वर्गको समझनेके लिए हमको तपोमूर्ति ब्रह्मचारीकी ओर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। ब्रह्मचारी 'ब्रह्मन्' की प्राप्तिके लिए तप करता था। इस ब्रह्मन्को प्राप्त कर लेनेपर वह स्वयं ब्रह्मन् हो जाता था। ऋग्वेदमें ऐसे ब्रह्मन्के विषयमें कहा गया है--

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां।
यज्ञस्य मात्रा वि मिमीत उ त्वः ॥
(१०-७१-११)

---

२ इस नेतृत्वका श्रेय प्रायः इन्द्रको दिया गया है। इन्द्र देवता था। इसे आर्योंका प्रथम सम्राट् भी कुछ विद्वानोंने माना है। देवता प्रायः सभीके सभी क्षत्र (रक्षा–शक्ति) प्रधान थे। ऋग्वेद ७।६२।२ तथा ८।२५।८ में मित्र और वरुण-को, ८।६७।१ में आदित्यको तथा १०।६६।८ में सभी देवताओंको क्षत्रिय कहा गया है।

३. यह ऋषिवर्ग ब्रह्म और क्षत्रसे भिन्न था, पर दोनोंकी प्रवृत्तियोंका समन्वय भी इनमें था। यथा –

ते नो गृणाने महिनी महिश्रवः क्षत्रं द्यावा पृथिवी धासथो बृहत्।
येनाभि कृष्टीस्ततनाम विश्वहा पनाय्यमोजो अस्मे समन्वितम् (ऋ० १।१६०।५)

४. ऋ० १०।१५४।३

५. कुछ ऋषि तपःप्रधान जीवन बिताते थे। ऋग्वेद १०।१०९।४के अनुसार 'सप्त ऋषयस्तपसा ये निषेदुः'– अर्थात् सप्तर्षि तपमें संलग्न हैं। ऋग्वेद १०।१५४।४ में तपस्वी ऋषियोंकी चर्चा है।

६. ऋ० १०।१४।३

७ ऋ० ४।५०।७–९

इस मंत्रमें ज्ञातविद्या है पराविद्या अर्थात् वह वेदांतविद्या जिसके अनुसार ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मन्वर्गके लोगोंमें तप, अपरिग्रह और पराविद्याका विकास हुआ। उपनिषदोंमे ब्रह्मविद्याकी चर्चा की गई है, उसका वैदिक परम्परामें बीजारोपण और संवर्धन आदिकालमें 'ब्रह्मन्' वर्गके लोगोंने ब्रह्मचारी रहकर किया है।

इन्ही ब्रह्मन् वर्गके लोगोंका नाम ऋग्वेदमें ब्राह्मण है।[८] शनैः शनैः प्रायः ऋषि भी ब्राह्मणवर्गमें सम्मिलित हुए। कुछ ऋषियोंको ऋग्वेदमें ब्रह्मन् कहा गया है।[९] ऋषियोंने वैदिक काव्यका भी नाम ब्रह्मन् रखा है।[१०] इस प्रकार ब्रह्मन् दो प्रकारका है– पराविद्याका ज्ञान और ऋषियोंकी स्तुति। दोनोंके अधिकारियोंको ब्राह्मण कहा गया है। ऋग्वेद के मण्डूकसूक्त (७.१०३) में जो ब्राह्मण नाम मिलता है वह पराविद्याके अधिकारियोंके लिये प्रयुक्त है।

लोक-कल्याण चाहनेवाले ऋषियोंने तपको अपना कर उसे अपनी शक्तिका साधन बनाया। इन ऋषियोंके समकक्ष ऋग्वेदमें वर्णित मुनि पडते हैं। सामाजिक संस्थानमें यद्यपि इनका विशेष महत्त्व नहीं है, तथापि परवर्त्ती वानप्रस्थ और संन्यास–आश्रम विधानकी दृष्टिसे इन्हें सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है।[११]

क्षत्र या क्षत्रिय

आर्योंका एक महत्त्वपूर्ण वर्ग क्षत्र या क्षत्रिय था। ऋग्वेदमें ब्रह्म, क्षत्र, और विश्–तीनोंको प्रेरणा प्रदान करनेके लिये अश्विनोंसे प्रार्थना की गई है।[१२] इस प्रसङ्गमें क्षत्रके साथ नृन्को प्रेरणा प्रदान करनेकी चर्चा होनेसे स्पष्ट है कि क्षत्र यहां क्षत्रिय समुदायका वाचक है। क्षत्रधारी क्षत्रियकी बलशालिता और ऐश्वर्यका निर्वाचन भी कुछ मन्त्रोंमें मिलता है।[१३] क्षत्रियके राष्ट्रके सुरक्षित होनेकी चर्चा इस प्रकार मिलती है—

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या
ब्रह्म जायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा
तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ ऋ० १० १०९ ३

उपर्युक्त क्षत्रिय जन्मना भले ही न होता हो, किन्तु ऋग्वेदकालमें क्षात्रधर्मको अपनी जीविकाका साधन बनानेवाला अथवा जीवन-पथ बनानेवाला क्षत्रिय कहा जाता था और परवर्त्ती–क्षत्रिय जातिका मूल इसी क्षात्रसंस्थामें है– यह निर्विवाद है। कुछ ऋषि भी क्षत्रोपासक हुए। परवर्ती युगमें उनकी देवर्षि यह उपाधि सुविदित ही रही है।

विश् या वैश्य

ऋग्वेदमें विश् वर्गके लोगोंका प्राय वर्णन मिलता है।[१४] विश् प्रवृत्तिकी दृष्टिसे ब्रह्मन् या क्षत्रिय वर्गसे भिन्न थे।[१५] इनकी संख्या समाजमें सबसे अधिक थी। सम्भवतः यही विश् समाज है, जिसमेंसे अपनी विशेषताके अनुसार कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र अपनी योग्यताके

---

८. इन्हीं ब्रह्मन् वर्गके लोगोंकी प्रधानताके कारण ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देशकी प्रतिष्ठा पञ्जाबमें हुई।

९. वशिष्ठ ऋषि हैं। इनको ऋ. ७।३३।११ में ब्रह्मन् कहा गया है।

१०. ऋ २।१२।१४, २।२३।२३

११. मुनियोंके लिये देखिये, ऋग्वेद १०।१३६।५ तथा ८।१७।१४। अथर्ववेद ७।७४।१ में देवमुनियोंका वर्णन है।

१२. ऋग्वेद ८।३५।१६–१८

१३ मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः। (ऋ ४।४२।१)

१४. विश्का अर्थ साधारणतः जनसमुदाय या समाज ही वैदिकयुगके प्रारम्भमें था। आजकलकी ही भाँति यह साधारण जनसमुदाय वैदिककालमें भी संसारकी बडी समस्याओंसे दूर रहकर खाने कमानेके काममें लगा हुआ था और उसकी प्रवृत्ति कृषि, पशुपालन आदि की ओर थी।

१५ सांस्कृतिक विशेषताओंसे रहित यह विश् नामक जनसमुदाय तीन प्रकारका था– (१) मानव-वर्गीय (२) दास–वर्गीय (३) देववर्गीय। इनके लिये देखिये क्रमशः ऋ० ३, ५३; ३, ६, ३, ३, ११, ५ आदिमें मानव विश्, ४, २८, ४, ६, २५ २ आदिमें दासवर्गीय विश् तथा ३. ३४–२में देववर्गीयविश्

अनुसार बन सकता था। इनको एक नेता, संरक्षक या राजाकी आवश्यकता थी, जो इन्द्रके रूपमें मिला था। ऋग्वेदमें कहा है—

इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां
विशां देवीनामुत पूर्वयावा ॥ ३।३४।२

ऋग्वेदमें विशका प्रयोग सभी आर्यसमुदायोंके लिये हुआ है।[१६] ऋग्वेदका विश भी शनै शनैः व्यावसायिक विशेषताके बलपर उन्हीं लोगोंकी छाप लेकर रहा, जो कृषक और पशुपालक थे। परवर्ती युगमें विश वैश्यका समानार्थक बना, सब वैश्यका अर्थ प्रायः वही हो गया, जो आजकल है।

शूद्र

शूद्रोंका कोई स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेदके प्रारम्भिक भागमें नहीं मिलता। इससे क्या हम यह निष्कर्ष निकाल ले कि आर्य- समुदायमें शूद्रोंके समकक्ष व्यवसाय करने वाले प्रारम्भमें नहीं थे? भला ऐसा भी कोई समाज हो सकता है, जिसमें सेवको और शिल्पियोंका अभाव हो? ऋग्वेदका आर्य-समाज सुविकसित था। इस समाजमें ऐश्वर्यशाली लोगोंकी सेवा कौन करता था? दासोंको यदि सेवक बनाया तो प्रश्न यह उठता है कि दासोंके सम्पर्कमें आनेसे पहले यह काम आर्योंके लिये कौन करता था? निष्पक्ष भावसे विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि दासोंके सम्पर्कमें आनेसे पूर्व भी आर्य-समुदायमें सेवक थे और इन्हें यदि कोई भी नाम व्यवसायानुरूप दिया गया हो तो वह नाम शूद्रका पर्यायवाची रहा। पाश्चात्य विद्वानोंने भी शूद्रोंका अस्तित्व आर्यवर्गमें माना है।[१७]

परवर्ती युगमें शूद्रोंके प्रति जो घृणाका भाव दिखाई देता है, वह किन कारणोंसे हुआ-यह विचारणीय समस्या अवश्य ही है, पर प्रारम्भिक युगमें कमसे कम उपनिषदोंके युग तक शूद्रोंके प्रति सद्भाव रहा है, नहीं तो यह घोषणा की जाती कि 'देवताओंमें पूषा शूद्र हुए'?[१८] पूषा जैसे देवताको शूद्रवर्णमें रखनामात्र ही सिद्ध करता है कि तत्कालीन समाज शूद्रोंका आदर करता था। जो कुछ है, उसका पोषण करना पूषाका काम था। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् युगतक शूद्रको समाजके पोषकके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

यहां तक आर्यवर्गका वर्णोंमें विभाजन हुआ। इस आर्य-वर्गमें ऋषि, ब्रह्मन् और मानव आदि आते हैं।[१९] इस वर्गके लोगोंका प्रधानतः दासोंसे संघर्ष हुआ। दासोंका भारतीयसमाजमें अन्ततोगत्वा सन्निवेश हुआ।

दास या दस्यु

वैदिकसाहित्यमें दास आर्यों या देवोंके प्रतिपक्षी है। देवोंके प्रतिपक्षी जो दास थे, वे सभीके सभी शूद्र या सेवक हो गये– कुछ विद्वानोंकी यह भ्रान्त धारणा है। वास्तवमें कुछ दास भले ही विजेताओंके सेवक बन गये हों या आर्योंके बीच प्रतिष्ठित शूद्रवर्णमें सम्मिलित हो गये हों, पर यह सोचना कि दास वर्गके लोग ब्राह्मण, ऋषि, राजा, राज्य, राजन्य क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्गोंमें सम्मिलित नहीं हुए-भारी भूल है। उस विषयमें विदेशी गवेषकों तकने कभी कभी स्वीकार किया है कि भारतके मूल आर्येतर निवासियोंमेंसे बहुतसे

---

१६. यत् पाञ्चजन्यया विशेन्द्र घोषा असृक्षत ८।६३।७

१७ But it is also possible that the Sūdras came to include men of Aryan race Vedic Index, Vol. II P- 265

१८. स नैव व्यभवत्, स शौद्रं वर्णमसृजत्, पूषणमिय वै पूषेयं हीद सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। बृहदा उप १,४,१,

१९, आर्य वर्गमें इन्द्र आदि देवताओंको रखा जाय या नहीं? इस विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऋग्वेदमें कुछ देवताओंकी चरितगाथा इस प्रकार है कि उन्हें हम मानवोंके बहुत सन्निकट पाते हैं। मेरा वक्तव्य केवल इतना ही है कि कुछ देवता आर्योंके प्राचीनतम पूर्वज हैं। आर्योंने अपने पूर्वजोंको देव और पितर-दो कोटियोंमें विभाजित किया था। पितर देवोंकी अपेक्षा कम प्राचीन पूर्वज हैं। देवोंसे मानवोंकी उत्पत्तिका इतिहास महाभारत आदिमें मिलता है। मनुसे मानवोंकी उत्पत्ति हुई और मनु देवपरम्परामें है। मनुके पिता या पितामह पितर कोटिमें हैं। देवताओंका चातुर्वर्ण्य विभाजन बृहदारण्यक १।४।११।१३ में देखिये।

क्षत्रिय बने।[२०] दासोंके आर्य बन जानेका प्रामाणिक उल्लेख भण्डारकरने किया है उनके अनुसार ऋग्वेद १०. ६५. ११ से स्पष्ट है कि आर्य लोग अपनी संस्कृतिका प्रसार चाहते थे। अनेक दास भी आर्य बनकर वैदिकसंस्कृतिमें घुलमिल गये।[२१] आर्योंने भारतमें दासोंको उनके कृषि और पशुपालन आदि कार्योंमें लगे रहने देकर उनकी वैश्य-वृत्तिको अक्षुण्ण रखकर वैश्य रहने दिया– ऐसी सम्भावना स्वाभाविक है।

दासोंकी शारीरिक और सांस्कृतिक विशेषताएं मिलती हैं कि वे अनासः अर्थात् बिना नाकवाले या चपटी नाकवाले थे।[२२] मनु संस्कृतिके माननेवाले मानुषोंसे इनकी संस्कृति भिन्न थी, अतः इन्हें अव्रत कहा गया। वे यज्ञ नहीं करते थे अतः अक्रतु थे।[२३] उनकी बोलीमें स्पष्टता नहीं थी, अतः वे मृध्रवाचः थे।[२४] उनका रंग काला था।

दासोंका नाम ऋग्वेदमें कहीं कहीं असुर भी मिलता है। पिप्रुको ऋग्वेदमें दास और असुर दोनों ही नाम दिये गये हैं।[२५] दासोंको असुर नाम देनेका एक कारण यही सम्भाव्य है कि देवोंको असुरोंसे वैर था। ऐसी स्थितिमें असुरका एक अर्थ शत्रु हो गया। यदि दासोंको भी देवों या आर्योंसे वैर हो तो इनको भी असुर (वैरी) की उपाधि दी गई। वास्तवमें असुर दासोंसे सर्वथा भिन्न हैं। परवर्ती युगमें कंस आदिको इसी दृष्टिसे असुर कहा गया कि वे देवरूपधारी कृष्णके शत्रु थे अथवा तत्कालीन आर्यसंस्कृतिके अनुयायियोंसे वे शत्रुता रखते थे।

दासोंके अतिरिक्त ऋग्वेदके अनुसार आर्योंको गन्धर्व, राक्षस, दानव, पिशाच, पणि आदि जनसमुदायोंके सम्पर्कमें आनेका अवसर मिला। आर्योंके द्वारा प्रचारित वर्णव्यवस्थामें ये सभी प्रवृत्तिके अनुसार समाविष्ट हुए या आर्यव्यवस्थासे बाहर जाकर रहने लगे। इनमेंसे भी कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बने। इन सबकी सांस्कृतिक विशेषताएँ रहीं हैं।[२६]

गन्धर्व

ऋग्वेदमें गन्धर्व और अप्सराओंके उल्लेख मिलते हैं।[२७] गन्धर्व स्पष्ट ही देव, असुर, ऋषि, मर्त्य आदिसे भिन्न हैं। ऋग्वेदमें इनको 'वायुकेश' विशेषण दिया गया है। सम्भवतः यह इनके सिरके लम्बे बालोंकी ओर संकेत करता है। गन्धर्व स्त्रियोंको अपने प्रेम-पाशमें आबद्ध करनेके लिये

20 The evidence of the Jatakas points to the word खत्तिय denoting the members of the old Aryan nobility who had led the tribes to conquest as well as those families of the aborigines who had managed to mantain their princely status in spite of the conquest. In the epic also the term क्षत्रिय seems to include these persons, but it has probably a wider significance than खत्रिय etc "— Vedic Index में क्षत्रिय।

21 But the Aryans were not non–proselytisers. Many members of the non–Aryan or races espoused the manu cult and were merged into the Aryan–race – Some Aspects of Ancient Indian culture, p 9

२२. ऋग्वेद ५।२९।१०

२३. ऋ. ७।६।३.

२४. ऋ. ७।६।३, ५।२९।१०

२५. ऋ. ८. ३२. २. तथा १९ ११८. ३

२६. विवाहसम्बन्धी इनकी सांस्कृतिक विशेषताओंका वर्णन आठ प्रकारकी हिन्दू-विवाह पद्धतिमें मिलता है। इन विवाहोंके तत्सम्बन्धी प्रकार गान्धर्व, राक्षस, पैशाच आदि हैं। गन्धर्वोंकी प्रेम-पद्धति, राक्षसोंका अन्याय और बल-प्रयोग तथा पिशाचोंका चौर्य उनकी विवाह-पद्धतिमें अक्षुण्ण हैं।

२७. अप्सराएं गन्धर्वोंकी स्त्रियां हैं। अथर्ववेदके अनुसार–जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वः पतयो यूयम्। ४।२७।१२ अथर्व. ४।३७।७ में गन्धर्वोंको अप्सरापति नाम दिया गया है और बताया गया है कि वे शिखण्डी (चोटीवाले) हैं और नृत्यमें सम्यक् निष्णात हैं। गन्धर्व, अप्सरा, पिशाच, और राक्षसोंका मर्त्यों (आर्यों या मानवों) से वैर है। वे मानवोंको सताते थे। उनको बचानेके लिये ब्रह्म (ब्रह्मबल) की आवश्यकता स्पष्टतः व्यक्त की गई है।

प्रसिद्ध थे। [२८] कुछ गन्धर्वोंको दिव्यपद भी मिला था। विश्वावसु नामक गन्धर्व सुप्रसिद्ध था। कुछ गन्धर्वोंसे डर कर आर्य उनसे सुरक्षाकी कामना करते थे। [२९] कुछ गन्धर्व सोमपान करते थे। [३०] कुछ गन्धर्वोंके आचार विचार शुद्ध थे। [३१]

ऐसा प्रतीत होता है कि गन्धर्वोंके वैदिकयुगमें दो वर्ग थे। इनमेंसे एक देव-परायण वर्ग था और दूसरा देवताओंका शत्रु। गन्धर्वोंको हिन्दूसमाजमें प्रतिष्ठित किया गया और उनकी वैवाहिक विधिको शास्त्र-सम्मत माना गया। गन्धर्वोंको भी योग्यताके अनुसार वर्ण-व्यवस्थामें स्थान मिला। गायक और नर्तक होनेके नाते वे प्रायशः शूद्र बने।

राक्षस

इन्द्रसे आर्य प्रार्थना करते थे कि तुम राक्षसोंको मारो। राक्षस ब्रह्मद्वेषी थे, क्रव्याद (कच्चा मांस खानेवाले) थे और उनकी दृष्टि क्रूर थी। इनके दुष्कृतको आर्य स्मरण रखते थे। इतना वैर था आर्योंसे कि राक्षसोंका सर्वनाश ही वे चाहते थे। राक्षसोंने उस युगमें अच्छी उन्नति कर ली थी। बात यह थी कि राक्षस लुक छिपकर आर्योंको मारते ही रहते थे। ऋषिने कामना की है– हे देवो, उस राक्षसका यश सूख जाय, जो हमें दिनरात मारनेकी इच्छा करता है। किसी ऋषिको राक्षस कहना गाली देना ही था। फिर भी कुछ राक्षस ऐसे थे, जिनकी जीवन-पद्धति विशुद्ध थी। राक्षसोंकी स्त्रियां भी माया द्वारा हिंसा करती थीं। [३२]

राक्षसोंको हिन्दू-समाजमें गूँथनेका काम शीघ्र पूरा न हो सका। रामायण कालके पश्चात् इन्हें हिन्दू-समाजमें पूर्ण रूपसे समाविष्ट कर लिया गया। कुछ राक्षस ब्रह्म राक्षस बन गये तथा बहुतसे बलशालिताके कारण क्षत्रिय बने।

पिशाच

ऋग्वेदमें पिशाचोंको राक्षसोंके ही समान भयंकर कहा गया है। [३३] राक्षसोंसे पिशाच मिलते जुलते थे। वे कच्चा मांस खाते थे। आर्योंसे पिशाचोंकी शत्रुता थी। पिशाचोंने आर्योंसे युद्ध किया था तथा आर्योंको इनके विरोधमें सफलता मिली थी। पिशाचोंको आर्यवसतिसे भगाना ऋषियोंका काम था। [३४] पिशाचविद्या भी प्रसिद्ध थी। [३५]

पिशाचोंको हिन्दू-समाजमें स्थान मिला। इनकी विवाह पद्धति शास्त्रीय मान ली गई। इन पिशाचोंको वन्य व्यवसाय देकर शूद्रकोटिमें रखा गया।

पणि

ऋग्वेदमें आर्येतर वर्गोंमें पणियोंका नाम अनेकशः आया है। पणि व्यापारी थे। ऋग्वेदमें पणियोंको वेकनाट नाम दिया गया है। [३६] पणि सम्भवतः दस्युओंसे सम्बन्धित थे। पणियोंका अन्तर्भाव हिन्दू समाजमें हुआ। वे पूर्ववत् व्यापारी होकर वणिक् बन गये होंगे। [३७]

आर्यीकरण

आर्योंकी एक सुसंस्कृत जीवन-पद्धति थी। इनकी दास, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच आदि वर्गोंसे मुठभेड हुई। आर्योंने इनको मिटाया नहीं, अपनेमें मिला लिया और विभिन्न व्यवसायोंको अपनाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्गोंमें सम्मिलित होनेकी सुविधा दी। यह प्रक्रिया आर्येतरोंका आर्यीकरण है।

---

२८. अथर्व. ४।३७।११

२९. अथर्व. १२।१।५०– इस मन्त्रमें अराय और किमीदिन् नामक दो गन्धर्वोंका उल्लेख है जो आर्योंके शत्रु थे।

३०. ऋ. ९।८३।४

३१. शतपथ ६।३।१।१

३२. यह वर्णन ऋ ७।१०४ पर आधारित है।

३३. ऋ. १।१३३।५

३४. अथर्व. ४।३६ से

३५. गोपथ ब्रा. १।१।१०

३६ ऋ० ८।६६।१०

३७ निरुक्तमें पणियोंको वणिक् कहा गया है।

आर्यों और आर्येतरोंके मेल–मिलापका प्रथम परिचय ऋग्वेदमें मिलता है। दासोंने आर्योंको दान देकर उनकी प्रतिष्ठा की। दानके माध्यमसे उन दोनों वर्गोंको एक दूसरेको समझनेका अवसर मिला।[३८] दासोंके द्वारा तत्कालीन ऐश्वर्यशाली समाज अलंकृत हुआ।[३९] कुछ आर्येतरलोग मन्त्रोंकी रचनामें निष्णात हुए और ऋषि बन गये। अर्बुद नामक आर्येतर नागवर्गीय ऋषिके रचे हुए सूक्त ऋग्वेदमें मिलते हैं।[४०] अर्बुदने तो देवताओंको भी यज्ञ–विधानकी शिक्षा दी।[४१] आर्यीकरणका मूलमन्त्र यह है—

ब्राह्म गामश्वं जनयन्त ओषधी
वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वता अपः।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव
आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि॥
(ऋ० १०।६५।११)

शतपथब्राह्मणके अनुसार गन्धर्व वैदिकमन्त्रोंका पाठ कर सकते थे।[४२] आर्योंने आर्येतरोंको धार्मिक क्षेत्रमें प्रविष्ट कराया। विश्वजित यज्ञमें यजमान आर्यराजाको अस्थायी रूपसे निषादोंके घर रहना पड़ता था। ये निषाद आर्येतर थे। सम्भवतः आर्येतरोंका एक सर्वसाधारण नाम निषाद था।[४३] इस प्रकार निषादोंसे एक निकट सम्बन्ध जुड़ रहा था। असुरोंके लिए भी यज्ञ–विधानकी प्रतिष्ठा करनेका काम शुक्राचार्य जैसे श्रेष्ठ महर्षिने अपनाया। शुक्रका यह कथानक भले ही कल्पित हो, पर इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि कुछ आर्थ पुरोहित आर्येतर लोगोंकी विजयके लिए यज्ञ–सम्पादन करते थे और इस प्रकार उनके समाजमें रहकर आर्यसंस्कृतिका प्रचार करते थे।

पारस्परिक विवाहोंके द्वारा भी आर्यों और आर्येतरोंकी सन्निकटता हुई। त्वष्टाकी स्त्री असुर कुलकी थी। इसीसे विश्वरूपका जन्म हुआ। विश्वरूप आगे चलकर देवताओंका पुरोहित बना।[४४] ऐतरेय ब्राह्मणके रचयिता महीदास इतरा नामक दासीके पुत्र थे। दीर्घतमाका पुत्र कक्षीवान् उशिज् नामक दासीसे उत्पन्न हुआ था। ऐलूष कवश इलूष नामक दासीका पुत्र था। वह तत्कालीन धर्माचार्यों द्वारा ऋषि माना गया।[४५]

वर्ण–परिवर्तन

वैदिकयुगमें वर्ण–परिवर्तन कर लेना अत्यन्त स्वाभाविक और सरल काम माना जाता था। शतपथ ब्राह्मणके अनुसार यदि कोई सुर आसुर भाषाका प्रयोग करता अथवा अशुद्ध भाषा बोलने लगता तो वह स्वयं म्लेच्छ या असुर हो जाता था।[४६] यज्ञ कराने वाला किसी वर्णका भी क्यों न हो ब्राह्मण बन जाता था। अश्वमेधविज्ञानको न जाननेवाला ब्राह्मण ब्राह्मणत्वसे च्युत कर दिया जाता था।[४७] यद्यपि जन्मना जातिकी प्रतिष्ठा थी, फिर भी इस वैदिक युगमें माता-पिता का उच्च-जातिका होना उतना गौरवास्पद नहीं था, जितना श्रुतिशाली होना।[४८]

ऋग्वैदिक कालमें जब चतुर्वर्ण-व्यवस्था नहीं बनी थी, लोगोंको अपना व्यवसाय परिवर्तन करनेकी पूरी सुविधा थी। इस युगमें प्रायः लोग अपने व्यवसायके आधार पर उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं समझे जाते थे और न समझे जा सकते थे, क्योंकि एक ही व्यक्ति कई व्यवसाय कर सकता था अथवा एक ही कुटुम्बके लोग विभिन्न व्यवसाय कर

---

३८ विप्र नामक ऋषिने बल्बूथ तथा तरुक्ष नामक दासोंसे दान ग्रहण किया। ऋ० ८।४६।३२ महाभारतके अनुसार अगस्त्यने इल्वल नामक दैत्यराजसे दान ग्रहण किया। राजाओंको इल्वल नामक असुरसे भरपूर धन मिला।

३९. दासोंमें आर्योंको अलंकृत करनेकी योग्यताका उल्लेख ऋग्वेद ७।८६ में है।

४० ऋ० १०।९४ का ऋषि अर्बुद है। १०।१२९ और १०।७६ भी आर्येतर नागऋषियोंकी रचनाएँ हैं।

४१. ऐतरेय ब्रा० ६।१।१.

४२ श० ब्रा० ३।२।४।६

४३ The word seems to denote not so much a particular tribe but to be the general term for the non–Aryan tribes who were not under Aryan control– Vedic Index निषाद।

४४. तै० सं. २।५।१।१

४५ ऐतरेय ब्रा० २।१९।१

४६. शतपथ ब्रा० ३।२।१।२४

४७. वही ३।४।२।१७। ऐतरेय ७।२९ के अनुसार विधिहीन हवन करनेसे सन्तान अन्य तीन वर्णोंकी हो जाती है।

४८ किमु ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः॥ कृ० यजु. ६०. १

सकते थे। ऋग्वेदमें अपने व्यवसायसे सम्भवतः ऊबा हुआ व्यक्ति किसी नये व्यवसायकी कामना करते हुए इन्द्रसे पूछता है —

कुविन्मा गोपां करसे जनस्य
कुविद्राजानं मघवन्नृजीषिन्।
कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य
कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः॥ ३।४३।५

शतपथ ब्राह्मणके अनुसार जिस दिनसे राजा जनकने याज्ञवल्क्यको ज्ञान दिया, उसी समयसे वे ब्राह्मण हो गये।[४९] ऋग्वेदके अनुसार राजा शान्तनुके भाई देवापि ने अकाल पड़ने पर अपने पौरोहित्यमें यज्ञ करवाया।[५०] शतपथ ब्राह्मणमें श्यापर्ण सायकायन नामक पुरोहित कहता है कि मेरी सन्तान गुणानुसार पुरोहित, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कुछ भी हो सकती है।[५१]

वर्णोंका सहकार

हम देखते हैं कि भारतमें मुख्य रूपसे चार वर्ण और असंख्य जातियाँ और उपजातियाँ बनीं। इन सभीमें संगति रही, एकमुखता रही और पारस्परिक संघर्षका अभाव रहा। वास्तवमें सामाजिक अभ्युदयके लिये सभी जातियाँ एक दूसरेका त्याग करती हुई और एक दूसरेसे सहयोग करती हुई सुखी थीं।

ब्राह्मण यज्ञ करते थे केवल अपने लिये नहीं, अपितु सबका या समाजका कल्याण चाहते हुए। यज्ञके अवसर पर ब्राह्मण कामना करता था– 'हे देव, सभी वर्णोंमें रुक् (दीप्ति) प्रदान करो।[५२] वेदने आदेश दिया है कि शूद्रोंसे भी कल्याणी वाक्का प्रयोग करनेसे मनुष्य देवताओंका प्रिय बन सकता है।[५३]

ब्राह्मणका सर्वोपरि कर्तव्य था शिक्षा देना और कर्तव्य-पथका ज्ञान कराना। इस प्रकार वह सारे समाजके विकासकी दिशा निर्धारित करता था। वह धार्मिक कार्य–कलापोंका सञ्चालन करता था और आचार तथा धर्मकी पद्धतियोंका निर्माण करता था। वास्तवमें वह समाजकी गति–विधिकी प्रतिष्ठा करता था। उसको चिरकाल तक तप और श्रम करनेपर ही यह योग्यता प्राप्त होती थी। उसका इस दिशामें सारा उपक्रम प्रत्यक्षतः तो अपने व्यक्तित्वके विकासके लिये था, पर गौण रूपसे सारा समाज उससे उपकृत होता था। वह सारी प्रजाको सत्पथपर अग्रसर करनेके लिये सचेष्ट रहता था।[५४]

वैदिककालसे ही समाजमें ब्राह्मणोंको सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। ऋग्वेदके अनुसार जिस राजाके आगे ब्रह्मन् (विद्वान् ब्राह्मण) चलता है, वह अपने घरमें प्रसन्न रहता है, सदा ही धान्यसे समृद्ध रहता है और सारी प्रजा स्वयं उसके समक्ष नत रहती है।[५५] ब्राह्मणोंको देवता तथा देवताओंका आश्रय भी मान लिया गया।[५६]

शतपथ– ब्राह्मणमें ब्राह्मणका अन्य जातियोंके साथ सहयोगका निदर्शन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण लोक-पंक्ति (लोगोंके व्यक्तित्वका विकास) करता है और लोग कृतज्ञ होकर उसकी पूजा करते हैं, उसको दान देते हैं, उससे शत्रुता नहीं रखते और उसको अवध्य मानते हैं।[५७] क्षत्रियको सफलता पानेके लिये इस ग्रन्थमें बताया गया है

४९. ११।६।२।१०

५० ऋ० १०।९८।५ बृहद्देवता ७।१५५

५१ वैदिक इण्डैक्स, भाग २ पृ. २६३

५२. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥ शु. यजु. १९. ४८. इस प्रकरणके समर्थनके लिये देखिये, तै. सं. ५।७।६।४ का. सं ४०।१३, मै सं. ३।४।८ वाजस सं. १८।४८, २६।२ तथा अथर्ववेद १९।३२।८, १९।६२।१

५३. यजु. २६।२

५४. ब्राह्मणो वै प्रजानामुपद्रष्टा। तैत्ति० ब्रा० २।२।१ तथा काठक संहिता ९।१६

५५ ऋ० ४।५०।८

५६. एते वै देवा. प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणाः। तैत्ति० सं. १।७. ३।१ तथा यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति।– तैत्ति० आरण्यक २।१५

५७. लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैः ब्राह्मणं भुनक्ति अर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च। ११।५।७।१

+

कि किसी कामको प्रारम्भ करनेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर उसे ब्राह्मणके समीप जाना चाहिये। ब्राह्मणके द्वारा समर्थित कर्म सफल होता है।[५८] इसी युगसे क्षत्रिय राजाओंके लिये ब्राह्मण-युक्त राजा अन्य राजाओंसे बढकर प्रतिष्ठित हुआ और इसी प्रकार राजासे युक्त ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणोंसे बढकर समझा गया।[५९] राजाके लिये नियम बनाया गया कि वह ब्राह्मणोंके समक्ष यदि विनयी है तो शत्रुओंपर विजयी हो सकेगा।[६०] ब्राह्मणोंका अनादर करना राजशक्तिके लिये विनाशक माना गया।[६१]

वैश्योंकी संख्या वैदिककालमें सर्वाधिक थी।[६२] वैदिक कालमें वैश्योंको सारे समाजके उपभोगके लिये धन धान्य उत्पन्न करनेवाला माना गया। उसकी उत्पन्न की हुई सम्पत्ति सारे राष्ट्रके उपभोगके लिये थी। शूद्रको पूषण कहा गया है। वह सारे समाजका पोषण-कर्त्ता था।[६३]

चारों वर्णोंकी सहकारिता राजनीतिक क्षेत्रमें भी थी। वैदिक कालीन रत्निपरिषद् अथवा राजपरिषद्में पुरोहित (ब्राह्मण), सेनापति (क्षत्रिय), ग्रामणी (वैश्य) गोविकर्तन (वैश्य); तक्षा (बढई, शूद्र) तथा रथकार (रथ बनानेवाले-शूद्र) होते थे।[६४]

उपजातियोंका विकास

कर्मानुसार वर्णव्यवस्थाका नियम होनेपर चार ही वर्णोंमें सारे समाजका संगठन तो हुआ, पर असंख्य कर्मोंके अनुकूल असंख्य जातियोंके बन जानेका प्रारम्भ भी उपर्युक्त आधार पर हुआ। यज्ञके अवसर पर १६ पुरोहित १६ प्रकारके कामोंमें संलग्न होते थे। इनके सोलह नाम मिलते हैं। इनमेंसे प्रत्येकके पद और प्रतिष्ठा भी समान नहीं थी। वैश्योंके तीन व्यवसाय माने तो गये पर इनमेंसे दो- कृषि तथा पशुपालन- सभी वर्णोंके लोग समान रूपसे अपना सकते थे और व्यापारकी वस्तुओंकी संख्या असंख्य थी तथा विभिन्न वस्तुओंके व्यापार करनेवालोंके पद और प्रतिष्ठा भिन्न-भिन्न रही। दूध बेचनेवाला शराब बेचने वालेके बराबर कैसे हो सकता था? शूद्रोंमें उपजातियोंकी संख्या अन्य वर्णोंसे बढकर विकसित हुई। शूद्रोंको प्राय: सार्वजनिक उपयोगिताके लिये वस्तुओंका निर्माण करना पडता था। सभी प्रकारके काम इनके हाथमें थे। विभिन्न काम करनेवालोंकी पद और प्रतिष्ठाके आधार पर असंख्य उपजातियोंका विकास होना स्वाभाविक हो गया।

ऋग्वेदमें नप्ता (नाई) तष्टा (बढई), त्वष्टा (बढई), भिषक् (वैद्य), कर्मार (लोहार) चर्मम्न (चमार) आदि अथर्ववेदमें इनके अतिरिक्त रथकार, सूत आदि, तैत्तिरीय संहितामें कुलाल (कुम्हार), पुञ्जिष्ट (व्याध), निषाद (नाव चलानेवाला), इषुकृत (बाण बनानेवाला), धन्वकृत (धनुष बनानेवाला), मृगयु (मृगया करनेवाला) आदि विभिन्न व्यवसायिकोंके नाम मिलते हैं। इनमेंसे प्राय: सभी शूद्र वर्णकी उपजातियाँ बनी। देश-भेदसे भी नई जातियां बनती रहीं।

इसप्रकार वैदिक वर्णव्यवस्थाका विकास हुआ। यही वैदिक वर्णव्यवस्था आगे जाकर भारतीयसमाजका आधार बनी, जो महाभारतकालके आसपास तक चलती रही, पर उसके बाद वह ऐसी विलीन हो गई कि उसका आज नामशेष ही रह गया है।

+ + +

---

५८. शत० ब्रा० ४।१।४।६
५९. तैत्ति० सं. ५।१।१०।३
६०. शतपथ ब्रा. ५।४।४।१५
६१. अथर्ववेद ५।१८ तथा ५।१९।
६२. तैत्ति. सं. ७।१।१।५
६३. बृहदारण्यक उप १।४।१३
६४. शतपथ ब्रा. ५।३।१।१ तथा काठक सं. १५.४

स्वामी भगवदाचार्य महामण्डलेश्वर

भगवान् वेद

☆

[वैदिकधर्ममें तर्कऋषिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन ऋषिमुनियोंने इस तर्कके आधार पर ही अपने सिद्धान्त निश्चित किए हैं। इस तर्कने ईश्वरको भी नहीं बख्शा और न वेदोंको ही। इन दोनों पर भी इसने अपना अधिकार जमाया। वेद और ईश्वरके बारेमें भी अनेक तरहकी शंकायें उपस्थित की गई। ईश्वरका अस्तित्व तथा वेदोंका पौरुषेयत्व तथा अपौरुषेयत्वके प्रश्न अनादिकालसे चले आ रहे हैं। वैसी ही कुछ शंकायें लेखकने इस लेखमें प्रस्तुत की हैं। पर यदि इन शंकाओंका सामंजस्यपूर्ण समाधान भी विद्वान् लेखकने कर दिया होता, तो लेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता। तथापि प्रस्तुत लेख विचारणीय और मननीय है]

☆

वेद संसारके सभी धर्मों और धर्मियोंमें प्रसिद्ध शब्द है। वेद उन धर्मग्रन्थोंका सामूहिक नाम है जिन्हे ब्रह्मसे अथवा ब्रह्माके मुखसे उपदिष्ट माना गया है। हिन्दुओंके सभी ग्रन्थ पुराण, महाभारत, वाल्मीकिरामायण, दर्शन और उपनिषद् सबने ही एक स्वरसे एक ही प्रकारसे वेदोंको अनादि और अनन्त माना है। अनादि इसलिए कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। ईश्वरीय ज्ञानका आरम्भ नहीं होता। जबसे ईश्वर हैं तबसे वेद हैं। ईश्वर अनादि है अत वेद भी अनादि है। ईश्वर अनन्त है अत:वेद भी अनन्त है। अनन्ता वै वेदाः यह प्रसिद्धि भी है।

वेदोंकी संख्या चार है। शतपथ ब्राह्मणमें—

अग्नेर्ऋग्वेदः। वायोर्यजुर्वेदः। आदित्यात्सामवेदः। अङ्गिरसोऽथर्ववेदः।

इस रीतिसे अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषिसे क्रमश. ऋक्, यजु., साम और अथर्ववेदका प्राकटय माना गया है। यहां प्रश्न यह हो सकता है शतपथकी श्रुतिमें पठित अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इन चारों शब्दोंके आगे पञ्चमी विभक्ति श्रुत है और पञ्चमी विभक्ति अपादानमे होती है। जैसा कि भगवान् पाणिनिने कहा है—

आख्यातोपयोगे ॥ १।४।२९ ॥ इस सूत्रमें आख्याता और उपयोगे ये दो शब्द हैं, पद हैं। आख्याताका अर्थ है अध्यापयिता अर्थात् अध्यापक। जहां नियमपूर्वक विद्याका ग्रहण जिससे किया जाता है उसकी अपादान संज्ञा होती है। अपादानमें पञ्चमी विभक्ति होती है। सूत्रमे आये हुए उपयोग शब्दका ही अर्थ है नियमपूर्वक विद्या–स्वीकार। इस सूत्रके भाष्यकी टीकामें उपाध्याय कैयटने कहा है " उपयोग-ग्रहणं विशिष्टव्यापारपरिग्रहार्थम्। तेन ग्रन्थार्थ-धारणार्थं यद् ग्रहणं स उपयोगः। कैयटके " अथवा उपयोग को भवितुमर्हति यो नियमपूर्वकः " इस ग्रन्थके अवलोकनसे यह सिद्ध है कि नियम अर्थमें ही उपयोगशब्द

रूढ है। आख्याताके उपयोगमें अपादान संज्ञा आख्याताकी ही होती है, उसी आख्याताके आगे पञ्चमी विभक्ति आती है। अग्नि, वायु, अङ्गिराके आगे पञ्चमी विभक्ति है। अत वे चारों ही आख्याता हो सकते हैं। उनके आगे पञ्चमी विभक्ति युक्त है। परन्तु तब वेद ईश्वरीय ग्रन्थ सिद्ध नहीं होते प्रत्युत अग्नि, वायु, आदित्य अङ्गिराके उपदिष्ट ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। मनुस्मृतिमें भी कहा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ १।२३॥

परन्तु यह श्लोक विवादग्रस्त है। दुदोह क्रियाका कर्ता ब्रह्म है। यहाँ ब्रह्मका अर्थ ब्रह्मा है। ब्रह्माने अग्नि, वायु, आदित्यसे ऋक्, यजु, साम इन तीनों वेदोंका दोहन किया अर्थात् आकर्षण किया। ऐसा अर्थ करने पर शतपथ श्रुतिका भी एतदनुगुण ही अर्थ करना उचित होगा। तब यह अर्थ होगा कि ब्रह्माने इन चारो ऋषियोंसे तीन वेदोंको प्राप्त किया। परन्तु तब ईश्वरसे कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। हा, दुह् धातु द्विकर्मक है। एक कर्मका यदि अध्याहार कर लिया जाय तो "ब्रह्मको तीनों वेदोंका दोहन किया" अर्थात् "ब्रह्मासे तीनों वेदोंका दोहन किया।" तब तात्पर्य यह होगा कि ब्रह्मासे तीनों वेदोंकी उत्पत्ति हुई। अब ईश्वरका सम्बन्ध छूट जाता है ईश्वरसे वेदोंका प्राकट्य सिद्ध नही होता।

वैशेषिक दर्शनके षष्ठाध्यायके आरम्भमें ही एक सूत्र है—

बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे ॥ ६।१।१ ॥

अर्थात् वेदोंमें वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है। बुद्धिपूर्वाका अर्थ इस सूत्रके व्याख्याता श्रीशङ्करमिश्रने वक्तृयथार्थज्ञानपूर्वा किया है। अर्थात् वेदकी वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक हुई है। वेदवाक्यरचना यह शब्दप्रयोग ही आस्तिक-वैदिकोंके लिये मर्मभेदक है। वेदोंकी रचना माननेपर वेदनित्यत्व नहीं रह जाता। यदुत्पद्यते तद्विनश्यति इस नियमके अनुसार वेदका विनाश मानना पडेगा। रचना किसी कालमें ही होती है, एव वह रचना किसी कालमें नष्ट भी हो जाती है। अत वेदका नित्यत्व सर्वसम्मत नहीं है, ऐसा मानना ही पडेगा। वेद शब्दसमूहात्मक है। शब्दोंके विषयमें न्याय-वैशेषिक दोनोंका मत है कि शब्द अनित्य है। वेद भी शब्दरूप ही है अतः वेद भी अनित्य है। परन्तु यह सिद्धान्त वेदाभिमानियोंको इष्ट नही है।

न्यायदर्शनमें तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ २।१।५८ ॥

इस सूत्रसे आरम्भ करके इस आह्निकके अन्ततक वेदचर्चा ही हुई है। गौतममुनिके समयमें ब्राह्मणोंको वेदत्व प्राप्त हो चुका था। वेदब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् के अनुसार ब्राह्मण भी वेदशब्दप्रतिबोध्य गौतमकालमें बन चुके थे। अत गौतमने ब्राह्मणोंको ही वेद मानकर विचार किया है और उसकी प्रामाणिकताकी सिद्धि भी की है। नैयायिक शब्दको अनित्य मानते हैं। उनके मतसे वेद भी शब्दरूप ही होनेसे अनित्य है। नित्यानित्यविचार तथा प्रामाण्याप्रामाण्य विचार पृथक् पृथक् हैं। नित्य होनेसे ही किसीको प्रामाण्य प्राप्त नहीं होता है। अनित्य होनेसे ही कोई अप्रामाणिक नहीं सिद्ध होता। प्रामाणिक बननेके लिये किसी भी ग्रन्थको आप्त होना चाहिये।

जैमिनि शब्दको नित्य मानते हैं। उनके मतसे शब्द नित्य होनेसे शब्दसमूह वेद भी नित्य ही हैं।

वेदके नित्यत्व अनित्यत्वका विचार ईश्वर-स्वीकृतिके अधीन है, यदि वेद ईश्वरीय ही है तो ईश्वरका नित्य होना आवश्यक है। सांख्यदर्शन ईश्वरका अनित्यत्व ही नहीं, अस्तित्व भी नहीं मानता है। 'ईश्वरासिद्धेः' यह सूत्र ही सांख्यमतका प्रदर्शक है।

अस्तु, जो कुछ हो, वेद प्रामाणिक ग्रन्थ है, इसमें किसी भी आस्तिकदर्शनका मतभेद नहीं है। सांख्य और योगदर्शनका प्रायः मतैक्य है। अतः योगदर्शन भी ईश्वरके स्वीकारमें बहुत उत्साही नही है। उसका एक सूत्र है- क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

सांख्योंकी परिभाषामें जीवको पुरुष सज्ञा है। ऐसे विशिष्ट पुरुषको वह ईश्वर मानता है जिसका सम्बन्ध क्लेश और कर्मविपाकसे न हो। अर्थात् मुक्तात्मा ईश्वर है यह योगमत है।

बृहदारण्यकमें (२।४।१०) में कहा गया है कि "यस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत। इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानीति।" "त्रयो-वेदा अजायन्त" इत्यादि श्रौतवचनोंसे विदित होता है कि ऋग्वेदादि सब परमेश्वरसे ही उत्पन्न हुए हैं। निश्वसितम् का तात्पर्य यह है कि अनायास ही वेद प्रकट हुए हैं।

यहां एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि शतपथब्राह्मण में कहा गया कि अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरासे क्रमशः चारों वेदोंकी उत्पत्ति हुई है। यहा साक्षात् ब्रह्मसे ही उत्पत्ति कही गयी है। सत्य वचन कौन है, इसका निर्णय कठिन है। इतनाही मान लेना है कि अदृष्ट प्रेम अदृश्य कृति, वार्ता आदिके सम्बन्धमें अनेक जीभें अनेकरूपसे बोलती हैं। सब सुन लेना चाहिये और अन्तमें निर्णय स्वयं कर लेना चाहिये।

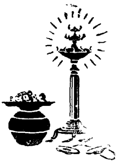
वेद पौरुषेय हैं, यह भी एक मत शास्त्रीय ही है। वेद अपौरुषेय है यह भी शास्त्रीय ही मत है। अपौरुषेय अथवा पौरुषेय होनेसे वेद अभिमत अथवा अनभिमत हों, ऐसा नहीं है। वे पौरुषेय हों तो भी शिरोधार्य हैं, अपौरुषेय हों तो भी शिरोधार्य हैं। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिने कहा है– शब्दप्रमाणका वयम्। यत् शब्द आह तद् अस्माक प्रमाणम्–शास्त्र जो कहे वही कर्तव्य है, जिसका निषेध करे, वही त्याज्य है।

सांख्याचार्य कपिलने सांख्यदर्शनके पञ्चम अध्यायमें "न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्" ५।४६" इस सूत्रसे वेदके पौरुषेय होनेका खण्डन किया है। उनका तात्पर्य है है कि ईश्वरका अस्तित्व तो है ही नहीं, तब वेदकर्ता ईश्वर कैसे हो सकते हैं? ४७ वें सूत्रमें कहा कि मुक्त जीव तो असङ्ग है। वह क्यों वेदरचनामें प्रवृत्त होगा ? अमुक्त जीव भी वेदरचना नहीं कर सकता, क्योंकि उसे वेदनिर्माणके लिए कौन कौन विषय अपेक्षित हैं, उसका उसे ज्ञान ही नहीं है। मैं पूर्वमें कह आया हूं कि वेद विवादसे अछूते नहीं हैं। परन्तु आस्तिकता एक ऐसा शस्त्र-अस्त्र है जो वेदके विषयमें किसी विरोधी आन्दोलनकी कोई चिन्ता नहीं करता। वेद ईश्वरोपदिष्ट हैं, इस विषयमें अनेक शास्त्रप्रमाण हैं। यथा—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि" (यजुर्वेद) "यो वै ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेताश्वतर) "अतएव च नित्यत्वम्" (ब्रह्मसूत्र १।३।२९) "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" वैशे० १।१।३ " इत्यादि। मीमांसकोंने वेदको पञ्चविध स्वीकार किया है। वह भेद ये हैं– विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद। यहा इतना स्मरण रहे कि यह पञ्चविधोक्ति ब्राह्मणोंको लक्ष्यमें रखकर की गयी है, संहिताभागके लिये नहीं है। × × ×

वेद अपौरुषेय हों या पौरुषेय, यह प्रश्न इतने महत्त्वका नहीं है, महत्त्वका प्रश्न तो यह है कि उन वेदोंमें लिखा क्या है ? क्या वेदोंमें कहे गए सिद्धान्त मानवजीवनकी उन्नतिके साधक हैं ? यही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मैंने जाना और समझा कि वेदोंके सिद्धान्त मानवको सच्चा मानव बनानेके लिए बहुत ही उपयोगी हैं। उनके सिद्धान्त किसी समय उपयोगी थे, आज नहीं हैं या आज हैं तो आगे नहीं रहेंगे, ऐसी बात नहीं है। वे सदासे उपयोगी रहे हैं, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। बस, इतना ही मेरे लिए पर्याप्त है।

– स्वामी विवेकानन्द



आचार्य धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

वैदिकसंस्कृतिके कुछ मुख्य तत्त्व

☆

[वैदिकसंस्कृतिकी अपनी विशेषतायें हैं, जो अन्य देशोंकी संस्कृतियोंमें अलभ्य हैं। यूनानी संस्कृतिमें "अपोलो" को सर्वोच्च देवता मानकर उसीकी पूजा सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। पर वैदिकसंस्कृतिमें अपोलोका समस्थानीय सूर्यदेव अवर स्थान पर है। उससे भी श्रेष्ठतर देव परमात्मा है, वही श्रेष्ठतम और सर्वोच्च है। इसी आस्तिकभावनासे प्रेरित इस संस्कृतिको विश्वके द्वारा वरणीय और सर्वोच्च संस्कृति कहा गया है। उस संस्कृतिकी विशेषताओंका वर्णन इस लेखमें प्रस्तुत है]

☆

आजकल संस्कृति शब्दका प्रयोग बहुत अधिक बढ गया है किन्तु खेद है कि शुद्ध रूपसे इसके स्वरूपको समझनेवालोंकी संख्या, उन लोगोंमें भी जो अपनेको भारतीय संस्कृतिका भक्त कहते हैं और सुशिक्षित हैं, बहुत कम है। सांस्कृतिक कार्यक्रमके नामसे प्रायः नग्नप्रायः अश्लील नाचगान (कुमारकुमारियोंके ही नहीं, युवकयुवतियोंके भी सम्मिलित) ही प्रचलित हो रहे हैं। वेदोंमें संस्कृति शब्दका प्रयोग केवल एक ही मंत्रमें (यजु० ७।१४) हुआ है किन्तु उस एक ही मंत्रमें इसके तत्वोंको सागरमें गागरके समान भर दिया गया है। वह मंत्र निम्नलिखित है।

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य
रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा
स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः ॥ (यजु० ७।१४)

इस मंत्रका शब्दार्थ निम्नलिखित है।

हे (देवसोम) सुखशान्ति आनन्दके दाता सर्वप्रकाशक शान्तिके स्रोत परमेश्वर ! हम (ते) तेरे (अच्छिन्नस्य) न नष्ट होनेवाले (सुवीर्यस्य) उत्तम शक्तियुक्त (रायस्पोषस्य) ऐश्वर्यकी पुष्टिके (ददितारः स्याम) बार बार और भलीभांति देनेवाले हों। (सा प्रथमा विश्ववारा संस्कृतिः) वह सबसे श्रेष्ठ और संसारके लोगों द्वारा वरणीय, स्वीकार करने योग्य समस्त संसारके लिए कल्याणकारिणी संस्कृति है। इसमें (मित्रः) सबका मित्र स्नेही (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ और अज्ञानान्धकार अथवा दुःखनिवारक (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (प्रथमः) सबसे प्रथम स्थानपर है। परमेश्वरका सदा स्मरण करते हुए यह संस्कृति सब शुभकर्मोंको करनेका आदेश देती है। साथ ही आधिभौतिक दृष्टिसे (मित्रः वरुणः अग्निः) जो सबको मित्रकी दृष्टिसे देखनेवाला अज्ञान अन्धकारका निवारण करनेवाला ज्ञानी अग्रणी नेता है। उस ब्राह्मणको इस संस्कृतिमें प्रथम स्थान दिया गया है। उसे सबसे अधिक पूजनीय माना गया है।

इस वेदमन्त्रमें वैदिकसंस्कृतिको प्रथमा और विश्ववारा कहा गया है। वैदिक साहित्यमें प्रथमाका अर्थ केवल पहला नहीं, अपितु निरुक्तानुसार प्रथमा—सबसे श्रेष्ठ यह होता है। यहां दोनों ही अर्थोंका ग्रहण करना उचित है।

इस संस्कृतिका दूसरा विशेषण विश्ववारा यह दिया गया है जिसका अर्थ होता है विश्वैर्वरणीया सबके लिये वरणीय वा स्वीकरणीय। इससे यह स्पष्ट है कि यह वैदिकसंस्कृति किसी एक विशेष वर्ग वा देशके लिये नहीं अपितु यह सार्वभौम और सर्वविश्वकल्याणकारी भी है जिसको स्वीकार करनेसे ही समस्त विश्वका हित इस सार्वभौम संस्कृतिसे हो सकता है।

इस प्रकार वैदिकसंस्कृतिके निम्न मुख्य तत्त्वोंका निर्देश इस मन्त्रमें किया गया है।

(१) इस संस्कृतिमें सारे ऐश्वर्य और समस्त जगत्का स्वामी एक परमेश्वरको ही माना गया है। आस्तिकभावना—एक परमेश्वरमें पूर्ण विश्वास और उसकी उपासना इसका मुख्य और अनिवार्य तत्त्व है। 'रायस्पोषस्य' से पूर्व 'ते' (तेरा) यह प्रयोग इस बातका सूचक है कि हमारे पास जो भी ऐश्वर्य हो उसको हम अपना न समझते हुए भगवान्का समझें, इस प्रकार हममें ऐश्वर्यके कारण अहङ्कार वा अभिमान उत्पन्न न होगा। कस्यस्विद्धनम् ॥ (यजु. ४०।१) में भी यही वैदिक-भावना है कि यह सब धन कः (को वै प्रजापतिः) अर्थात् सुखस्वरूप प्रजापति परमेश्वरका है, हमारा नहीं।

(२) द्वितीय वैदिकसंस्कृतिका तत्त्व जिसका मन्त्रमें निर्देश किया गया है वह यह है कि हम भगवान्की कृपासे प्राप्त ऐश्वर्यको बारबार और अच्छीप्रकारसे दान करने वाले बनें। यह परोपकार और त्यागकी भावना वैदिकसंस्कृतिकी एक प्रधान भावना है जिसका वेदमन्त्रोंमें बारबार निर्देश किया गया है, ताकि वह हमारे हृदयोंमें बद्धमूल वा भली-भांति अङ्कित हो जाए। ऋग्वेद दशम-मण्डलके १०७ और ११७ सूक्त तो सम्पूर्णतया दानप्रशंसात्मक हैं ही, उनके अतिरिक्तभी अनेक सूक्तों और मन्त्रोंमें दानका महत्त्व बताया गया है। ऋग्वेद १०।११७।६ में यहां तक कहा है कि—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं,
केवलाघो भवति केवलादी ॥

अर्थात् "अज्ञानी मनुष्य व्यर्थही अन्नधनादि प्राप्त करता है। मैं सच कहता हूँ कि वह अन्नधनादि उसके नाशका कारण बन जाता है। जो न न्यायकारी सज्जनों या उत्तमसंस्थाओं का पोषण करता है और न आवश्यकता पडने पर अपने मित्रकी ही सहायता करता है, वह केवल अपनी उदरपूर्तिके लिये ही खानेवाला स्वार्थी केवल पापका भोजन करनेवाला होता" है। इससे उत्तम और प्रभावशाली वैदिकसंस्कृतिका परोपकार, दान तथा स्वार्थत्याग विषयक क्या उपदेश हो सकता है? वेदभगवान् दान, स्वार्थत्याग और परोकारके विषयमें उपदेश करते हुए कहते हैं कि धनी मनुष्यको दूसरोंकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये दान अवश्य देना ही चाहिये। उसे दूरदर्शी होना चाहिये। उसे जानना चाहिये कि ये धन रथके चक्रकी तरह आज एकके पास हैं तो कल दूसरेके और परसों तीसरेके। लक्ष्मी चपल है यह जानकर उसे धनका अभिमान नहीं करना चाहिये और उसे अधिकसे अधिक परोपकारके कार्योंमें लगाना चाहिये। वेदमन्त्र इस प्रकार है—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा
ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥

(ऋग्वेद १०।११७।५)

इसका अर्थ सरल शब्दोंमें ऊपर दे दिया गया है अतः दुहराना अनावश्यक है। 'केवलाघो भवति केवलादी' इस वैदिकभावनाको ही मनुमहाराजने—

अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात् ॥

मनु. ३. ११८

और योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराजने भगवद्गीता ३. १३में—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

इन शब्दोंमें बताया है। दोनो वचनोंका भाव यही है कि जो केवल अपने लिये भोजन बनाता वा अन्न धन आदि का भोग करता है वह केवल पापका भोग करता है।

(३) वैदिकसंस्कृतिका तीसरा मुख्यतत्त्व विश्वकल्याणका है जिसका निर्देश ऊपर 'विश्ववारा' की व्याख्या करते हुए किया जा चुका है। वैदिकसंस्कृति अत्यन्त उदार असाम्प्रदायिक संस्कृति है जो सारे विश्वके हितको ध्यानमें रखना और उसका कल्याण करना सिखाती है।

(४) वैदिकसंस्कृतिका चतुर्थ मुख्य तत्त्व जिसका निर्देश 'स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः' इस चरणमें किया गया है यह है कि सबको मित्रकी दृष्टिसे देखनेवाले अज्ञानान्धकार निवारक ज्ञानी ब्राह्मणोंको समाजमें प्रथम अथवा सर्वोच्च स्थान देना चाहिये। उनका नेतृत्व होना चाहिये। विद्या, सदाचार, निःस्वार्थता, त्याग तपस्यादि गुण सम्पन्न व्यक्तियोंको समाजके नेतृत्वका अधिकार है। जहाँ इन गुणसम्पन्न व्यक्तियोंका तिरस्कार होता वा उनकी उपेक्षा की जाती है और पूंजीपति अपने धनके कारण प्रतिष्ठा पाते और पूजे जाते हैं चाहे वे कितने भी दुराचारी और भ्रष्टाचारी क्यों न हों, वहां समाजकी उन्नत नतिक अवस्था नहीं रह सकती। वर्णव्यवस्थाके एक महत्त्वपूर्ण अङ्गका इस प्रकार संक्षेपसे निर्देश किया गया है। इसका अर्थ अन्य वर्णवालोंके प्रति हीनभावना प्रदर्शित करना अथवा उनका अपमान करना नहीं है किन्तु विद्या, सदाचार, त्याग, तपस्यादि तथा तत्सम्पन्न व्यक्तियोंको उच्च स्थान दिलाना है जो समाज और राष्ट्रकी वास्तविक उन्नतिकी दृष्टिसे आवश्यक है। वैदिकसंस्कृतिमें धनकी कहीं निन्दा नहीं, अपितु 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' के समान ऐश्वर्यसम्पन्न होनेकी जगह जगहपर प्रार्थना है, पर 'सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम्' के अनुसार उसका सत्य और शुभकार्यों द्वारा प्राप्त यशके पश्चात् तीसरा स्थान माना गया है, न कि प्रथम जैसा कि दुर्भाग्यवश आजकल पाश्चात्य देशोंकी तो बात ही क्या है भारतमें भी प्रायः देखा जा रहा है।

(५) 'स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः' का ईश्वर परक अर्थ लेनेपर (जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है) यह भी भाव निकलता है कि वैदिकसंस्कृतिके अनुसार सबका मित्र, वरणीय सर्व श्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही सबसे प्रथम है। उसकी प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। उसके ज्ञान और प्राप्तिके बिना जीवन व्यर्थ है। वैदिक संस्कृतिके इसी तत्त्वको उपनिषत्कार ऋषियोंने—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। (केन. २।१३)

इन शब्दोंमें रखा है। अर्थात् इस जीवनमें यदि तुमने परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त कर लिया तो बहुत अच्छा है किन्तु यदि यहां रहते हुए वह ज्ञान तुमने प्राप्त नहीं किया तो बडी भारी हानि हो गई। उसके ज्ञानके विना तुम्हारा जीवन नष्ट हो गया। इस प्रकार वैदिकसंस्कृति भौतिक उन्नतिकी उपेक्षा न करती हुई और उसे उचित महत्त्व देती हुई भी प्रथम स्थान परमेश्वरके ज्ञान और उसकी अनुभूतिको देती है, क्योंकि उसके विना सच्चे सुख, शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति असम्भव है। शिक्षाकी आधारशिला वैदिक संस्कृतिके अनुसार ब्रह्मचर्य है जिसका अर्थ वेदोंके व्रत पूर्वक अध्ययनके अतिरिक्त ब्रह्म- परमेश्वरमें दिनरात विचरण करना है।

(६) वैदिकसंस्कृति परमात्माके ज्ञानके साथ अजर अमर नित्य आत्माके ज्ञानपर भी बडा बल देती है। आत्मा चेतन और अमर है, वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादिसे पृथक् और उनका स्वामी है। इस बातको भलीभांति समझ लेने और सर्वशक्तिमान् भगवान्को अपने मित्र और सहायकके रूपमें मान लेनेसे मनुष्य मृत्युभयसे भी मुक्त हो जाता है, ऐसा—

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-

रात्मानं धीरमजरं युवानम्। (अथर्व. १०।८।४४)

इत्यादि मन्त्रोंमें बताया गया है। भौतिक उन्नतिके साधनों और विज्ञानका भी वेदोंमें स्थान स्थान पर निर्देश है, किन्तु उसके साथ आत्मज्ञान और आत्मकल्याणके साधनको वैदिक संस्कृतिमें आवश्यक माना गया है। 'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' (ऋ. १०।१२९।५) के अनुसार प्रकृति नीचे और प्रयत्नशील आत्मा चेतन होनेसे इससे ऊपर है इस बातको कभी न भूलना चाहिये। सब प्राणियोंमें आत्मा है, जो सुखदुःखका अनुभव करनेवाला है, इसलिये वैदिक संस्कृति-

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (यजु. ३६।१८)

इत्यादि मन्त्रोंद्वारा सब प्राणियोंको मित्रकी प्रेममय दृष्टिसे देखनेका उपदेश करती है, पर साथ ही क्षत्रियोंके लिये दुष्ट-दमनका कर्तव्य बताती है। कर्मनियम, आशावाद और सर्वाङ्गीण अभ्युदयपर भी इसका बडा बल है। इस विषयका विस्तार हो सकता है, पर स्थानाभावसे वैदिकसंस्कृतिके तत्त्वोंका इतना ही निर्देश पर्याप्त है।



प्राचार्य डॉ० मो० दि० पराडकर एम. ए., पीएच्. डी.

वैदिक आर्य – वैभवशाली जीवनके उद्गाता

卐

[वैदिक आर्योंके चरित्रको सच्चे रूपमें प्रस्तुत करना आसान काम नहीं है। स्थूलरूपमें भी उनके चरित्रका जब आकलन किया जाता है, तब भी उनका जीवन गंगाकी तरह पवित्र, हिमालयकी तरह उत्तुंग, सागरकी तरह गंभीर एवं मर्यादित, धराकी तरह दृढ, सूर्यकी तरह तेजस्वी तथा अवकाशकी तरह अनन्त ही दिखाई पडता है। उनका जन-जीवन भी पूर्णतः अनाकलनीयसा ही बना रहता है। ऐसे आर्योंके विषयमें जो भी और जितना भी कुछ लिखा या पढा जाए, उतना ही अल्प है। उन मनस्वियोंके जीवनको प्रस्तुत करनेका यह प्रयास लेखककी वैदिकगरिमाका द्योतक है।]

卐

भारतीयसंस्कृति भोगकी अपेक्षा त्यागको महत्ता प्रदान करती है; भौतिक ऐश्वर्यकी अपेक्षा पारलौकिक कल्याणमें उसे अधिक रुचि है, सान्तकी तुलनामें अनन्तके प्रति उसे अपार आकर्षण है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु अक्सर यह माना जाता है कि इस संस्कृतिमें पलनेवाले व्यक्ति अधिकतर, आशाका रूप निराशा है में विश्वास रखते हुए व्यावहारिक उत्कर्षसे मुंह मोड लेते हैं, 'सर्वं दुःखं सर्वं क्षणिकं' वाले सिद्धान्तको माननेके कारण अवसाद उनके मनको निरन्तर घेरे रहता है। फलस्वरूप इस देशमें भौतिक उत्कर्षको निम्नकोटिका ही नहीं, हानिप्रद माननेकी परम्पराका निर्माण हुआ, जिससे दुनियाकी रफ्तारमें हम पिछड गए और उसीका फल है हमारी वर्तमान दयनीय दशा। उपर्युक्त कथन कुछ अंशोंमें सही है; किन्तु इसका मूल हमारी विकृत धारणाओंमें ही खोजना उचित होगा; हमारी प्राचीन संस्कृतिको इस विचारधाराका उत्स मानना सर्वथा अनुचित है। सच बात तो यह है कि स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके उपरांत नवीन राष्ट्रके निर्माणके लिए वैदिक कालके आर्योंकी जयिष्णु विचारधाराका पुनरुज्जीवन करना हमारे लिए अतीव लाभदायी सिद्ध होगा।

वैदिककाल चार वेदोंकी संहिताओंतक सीमित नहीं माना जा सकता; उसमें ब्राह्मणग्रथों, आरण्यकों एवं उपनिषदोंका भी अन्तर्भाव करना समीचीन है। वेदोंसे लेकर उपनिषदोंके सृजन–कालतक आर्योंकी जो जीवन–धारा रही उसकी ओर निगाह डालकर ही उनके दृष्टिकोणका सही अर्थोंमें परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इस तरहकी चेष्टा करनेवाला व्यक्ति वैदिकोंके तेजस्वी जीवनसे विस्मित

+

हुए बिना नहीं रह सकता । अवसादका कुहरा तो उसे कहीं भी नहीं मिल सकता । वैदिक आर्य निःसन्देह भूतलको स्वर्ग बनानेकी आकांक्षासे प्रेरित प्रतीत होते हैं । संसारको जगानेवाले सविताको देखकर वेदकालीन ऋषिकी प्रार्थना है—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतम् ।
जीवेम शरदः शतम् ॥

' देवोंका यह तेज हमारे सामने प्रकट हुआ है । इसे हम सौ वर्षोंतक देखें- हम सौ साल जिएं । ' शुक्ल यजुर्वेद (३६।२४) में एक स्थानपर इसी अभिलाषाको अभिव्यक्त करते हुए कविका कथन है—

' तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
शृणुयाम शरदः शतम् ।
प्रब्रवाम शरदः शतम् । अदीनाः स्याम
शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात् । '

इसमेंसे ' प्रब्रवाम शरदः शतम् ' में वाणके सभी गुणोंका समावेश होता है जो विद्यमान लोकतन्त्र शासनमें भी अत्यन्त आवश्यक हैं । ' प्रब्रवाम ' का अर्थ = ' प्रकर्षेण ब्रवाम ' अथवा ' प्रकृष्टं यथा स्यात् तथा ब्रवाम ' खेदके साथ कहना पडता है कि भारतके वर्तमान राजदूत इस विषयमें सतर्क नहीं दिखाई देते, इसीलिए विदेशोंमें हमारी पैरवी पुरअसर नहीं होती और हमारे मित्रोंकी संख्या दिन-ब-दिन घटती जा रही है ।

' अदीनाः स्याम शरदः शतम् ' में किस तरह जीएं-का उत्तर प्राप्त है । वैदिक आर्य दीन एवं दुःखी होकर जीना नहीं चाहते थे । वीरोंकी तरह जीना उनका लक्ष्य था; कायरोंकी तरह जीनेसे उन्हें नफरत थी ' काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते'में उनकी कोई रुचि नहीं थी । अथर्ववेदके उन्नीसवें काण्डके तीन सूक्तोंमें (६०-६३) ऋषिकी प्रार्थना है ' मुख, नेत्र, कर्ण आदि अवयवोंके साथ हमारे उच्छ्वासमें निर्बाध रूपसे शक्ति रहे, हमारे बाल सफेद न बनें, दांत हिलनेका नाम न लें, हमारे बाहुओंमें ताकत, जंघाओंमें वेग पैरोंमें स्थिरता एवं हृदयोंमें उत्साहवर्धक तेज हो मतलब किसी भी प्रकार दुर्बलता हमें कभी छू न सके । तैत्तिरीयारण्यकमें भी विजेताके रूपमें सौ बरसों तक जीनेकी इच्छा प्रकट की गई है । उनके चालीस साल पूरे होते ही बुढापेकी दुहाई देनेवाले विद्यमान भारतीयोंको वैदिक आर्योंके वंशज भला कैसे माना जा सकता है ?

दीनताके प्रायः दो कारण होते हैं— रोगों या व्याधियोंकी पीडा तथा दरिद्रता । पहलेका सम्बन्ध अगर तनसे है, तो दूसरेका मनसे । दोनोंको जीवनसे हटाना वैदिक आर्योंने आवश्यक माना । ऋग्वेदके एक ऋषिकी सूर्यसे प्रार्थना है ' हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं (पीलिया , च नाशय ' । और एक ऋषि ' अपत्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम् ' में चोरों एवं कपटियोंसे सुरक्षाकी मांग करता है । दरिद्रताके वे सबसे बडे शत्रु थे । दरिद्रताको वे नितान्त कुरूप मानते थे और उसे जीवनमें दूर किसी पर्वतके शिखर पर चले जानेकी सलाह देते थे । ' अरायिकाणं विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे ' यही उनका कथन रहा और यदि चुपचाप चले जाना उसे पसन्द न हो तो उसे बरबस उखाड फेंकनेके लिए वे सदैव प्रस्तुत थे । दरिद्र व्यक्ति अगर उन्हें सुहाता नहीं था तो धूर्त मक्खीचूस भी इनकी रायमें हेय था । ' पाहि धूर्तेरराव्णः' में इसीकी ओर संकेत है ।

कोई अचरज नहीं कि दरिद्रतासे वैर रखनेवाले आर्य समृद्धिके सुखके प्रबल समर्थक रहे हों । ' अस्मभ्यं शर्म यच्छतम्,' विश्वानि द्रविणानि धेहि' 'नित्यस्य रायः पतयः स्याम' ' नः पशुमा अस्तु गातुः ' ' रयिं देहि सहस्रिणं अग्ने वीरवतीमिषम् ' जैसी प्रार्थनाओंमें यही स्वर मुखरित है । ऋग्वेदकी कुछ ऋचाओंकी टेक है ' बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ' जिसका अर्थ है- ' वीर पुत्रोंसे संयुक्त होकर हम यज्ञोंमें समर्थ सिद्ध हों, अपने विचारोंको प्रभावपूर्ण ढंगसे व्यक्त करें ' यह अभिलाषा उन्हीं व्यक्तियोंके मुखसे निकल सकती है जो संसारको ' कांटोंकी बाडी ' न मानते हों और जो इस संसारमें कुछ करके दिखानेकी अभिलाषा संजोए हुए हों । विदथ याने यज्ञ उन दिनों समाजका मिलन-स्थान था, शक्ति एवं समृद्धिका केन्द्र था । आधुनिक कालमें विदथोंको संसद् या राज्यसभाका पर्यायवाची माना जा सकता है और तब तो यह प्रार्थना बीसवीं सदीके भारतीयोंके लिए भी निःसंदेह प्रेरक सिद्ध होगी । क्या हमें ऐसे वीरोंकी आज आवश्यकता नहीं है जो आधुनिक विदथोंमें भारतकी शान बढाएं, भारतका लोहा माननेपर विदेशियोंको बाध्य करें ।

स्पष्ट है कि ऐहिक संपत्ति एवं समृद्धिकी आकांक्षा रखनेवाले वैदिक आर्योंको भूतलपर ही स्वर्गका साक्षात्कार हुआ था। नदियोंके निर्मल जलमें उन्हें पवित्रताके दर्शन होते थे। सुबह नियमित रूपसे समूचे आकाशको स्वर्णिम विभासे सुशोभित करनेवाली उषा हास्यवदना सुन्दर नर्तकीकी तरह उनके मनको रिझाती थी। खेतोंकी फसलके साथ साथ गायों द्वारा प्रदत्त दुग्धधाराओंमें उन्हें अमृतकी रुचि प्रतीत होती थी। कवियोंकी प्रतिभामयी वाणीमें स्वर्गीय संसार एवं सभी देवताओंके निवासका विलोभनीय चित्र देखनेकी मंगल प्रवृत्तिके कारण ही उनके मुखसे—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत् तद्विदुस्त इमे समासते ॥

जैसे शब्द प्रकट हुए।

यह भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि संसारके सभी सुखोंको उपादेय माननेवाले आर्य उद्योग एवं पराक्रमके आधारपर ऐश्वर्यकी प्राप्तिके समर्थक थे। सयोगसे पाया हुआ धन उनकी आँखोंमें स्पृहणीय कभी नहीं रहा। ऋग्वेदके ऋभुओंने अपने पराक्रमके ही सहारे देवोंसे हविर्भाग प्राप्त किया। 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' यही उनके जीवनका मूलमन्त्र रहा। ऐतरेय ब्राह्मणके हरिश्चन्द्रोपाख्यानमें परिश्रमकी ही महिमा वर्णित है। इन्द्रने हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहितके मनपर अविराम उद्योगकी आवश्यकता अंकित करनेकी चेष्टा की। 'विना श्रमके श्री प्राप्त नहीं होती, आलसी व्यक्ति पापका ही भागी होता है। इन्द्र (याने परमात्मा) भी निरन्तर काम करनेवाले व्यक्तिके ही साथ मित्रता करता है।' इन्द्रके निम्नलिखित वचन आज भी याद रखने योग्य हैं—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीत्यनुशुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥ चरैवेति।
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्। चरैवेति।
चरन् वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥ चरैवेति।

अन्तिम श्लोकमें सूर्यका उदाहरण देकर अविराम उद्योगकी सुष्ठु प्रशंसाकी गई है। उपर्युक्त पंक्तियोंको पढते पढते रस्किनके 'work, work, be it for the infinite smallest part, but work. For night commeth when no man would work' जैसे महत्त्वपूर्ण शब्दोंकी याद आती है और पता चलता है कि भारतीयोंके लिए 'आराम हराम है' यह कोई नई घोषणा नहीं मानी जा सकती। अथक परिश्रम करनेके लिए प्रस्तुत आर्य आपत्तियोंकी भला क्यों परवाह करते? वे देवोंसे तेज एवं अनुमद्की याचना करते थे और उन्हें विश्वास था कि—

धन्वना गाः धन्वनाजिं जयेम
धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति
धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥

वे सचमुच 'धीर वीर निर्भीकमना' थे। अथर्ववेदके एक ऋषिवर किसीसे भी न डरते हुए निरन्तर बढनेका संदेश देते हुए कहते हैं—

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥
यथा सूर्यश्च चंद्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥

कोई अचरज नहीं कि इस तरहका निरामय दृष्टिकोण रखनेवाले वैदिक आर्य समृद्धिके स्वर्णयुगके निर्माणमें सफल हुए हों। तत्कालीन संपत्तिमें प्रधान रूपसे पशुओंका अन्तर्भाव होता था। गौएं, बैल, बकरियां आदिको लेनदेनका साधन माना जाता था। सोमभागमें सोमवल्लीके मूल्यके रूपमें अध्वर्यु सद्यःप्रसूत गाय, बछडा, गाडीमें जोता जानेवाला बैल, वस्त्र, सोना आदिका दान करता था। दानस्तुतियोंमें पाए जानेवाले उल्लेख पशुओंकी अपार समृद्धिके परिचायक हैं। राजासे प्राप्त अनुदानका साभिमान उल्लेख करते हुए कक्षीवान् ऋषिका कथन है—

शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान्
शतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम्।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां
दिवि श्रवोऽजरमा ततान ॥

वृश्य ऋषि भी अनुदानके रूपमें प्राप्त वस्तुओंमें चारसौ *अश्वोंका भी उल्लेख करता है । इस समय सैकडों मीलोंतक* फैले हुए चरागाह एवं निर्मल तथा विपुल जलसे प्रवहमान नदियां पशुपालनके लिये पूर्णतया अनुकूल थीं ।

वैदिकोंके इस सुवर्णयुगकी दूसरी विशेषता है हिरण्यका संचय । सोमयागमें सोमवल्लीको पीसनेके अवसर पर 'हिरण्यकोश' प्रयुक्त होता था । उन दिनों स्त्रियोंके साथ साथ पुरुष भी सोनेके आभूषण पहनते थे । ऋग्वेदमें बाहुभूषण एवं कर्णभूषणका उल्लेख बार बार आता है । गर्ग ऋषिने '**हिरण्यपिण्डान् दिवोदासादसानिषम्**' में दिवोदाससे प्राप्त हिरण्यपिण्डोंका उल्लेख किया है । कोई अचरज नहीं कि वैदिक कालके देवता भी अलंकारप्रिय हों । रुद्रके गलेमें सोनेका आभूषण है तो इन्द्र निष्कोंका हार पहने हुए दिखाई देते हैं । 'निष्क' संभवतः सोनेकी मुद्रा थी । बेबिलोनियामें प्रचलित 'मना' जैसे सिक्केका भी ऋग्वेदमें पाया जाना उस समयके लेनदेनकी ओर संकेत करता है ।

लेन-देनका सम्बन्ध व्यापारसे है । व्यापारमें वैदिक कालके आर्योंने पर्याप्त प्रगति की थी । ऋग्वेदकालमें जलमार्ग एवं स्थलमार्ग, दोनोंसे आर्य परिचित प्रतीत होते हैं । ऋग्वेदमें एक स्थानपर सौ डाडोंसे चलाई जानेवाली नौका वर्णित है । भुज्युको नौकाके सहारे सुरक्षित स्थान पर पहुचानेका कार्य अश्विनीकुमारों द्वारा सम्पन्न हुआ । वरुणकी महिमाका वर्णन करते हुए '**वेद यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पततां । वेद नावः समुद्रियः**' जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो नौकानयनके ही परिचायक हैं । राजा वरुणकी कृपाके बलपर ऋषि वसिष्ठ अपनी नौकाको ठीक समुद्रके बीच लेजाकर सैरसे उत्पन्न आनंदका वर्णन करते हुए कहते हैं—

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं
प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव
प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥

खेदका विषय है कि उस कालमें याने सुदूर अतीतमें नौकासे सैर करनेवाले आर्योंके कतिपय वंशजोंको उन्नीसवीं शताब्दीमें इंग्लेंडसे लौटनेपर प्रायश्चित्त लेनेपर बाध्य किया गया ! जलमार्गको छोडकर भूमार्गके आवागमनके लिए बैलगाडियों एवं रथोंको प्रयुक्त किया जाता था । अश्विनौके *रथके वर्णनसे स्पष्ट है कि रथमें कभी कभी तीन अश्व भी* जोते जाते थे । प्रवासके साथ साथ स्पर्धाओं एवं युद्धोंमें भी अश्वोंसे युक्त रथोंका भरसक उपयोग किया जाता था । असलमें इन रथोंके बलपर ही आर्योंने अपने शत्रुओंके दांत खट्टे करनेमें सफलता पाई ।

वेदकालीन आर्य निस्सन्देह लोहयुगमें या धातुयुगमें प्रवेश कर चुके थे । लोहसे तलवार, परशु जैसे शस्त्र बनानेकी कला वे जानते थे । अथर्ववेदका "श्यामं अयः" तथा तैत्तिरीय संहिताके 'श्यामं च लोहं च मे' जैसे शब्द इस विषयमें सन्देहके लिए कोई अवसर नहीं देते । छान्दोग्योपनिषद्का '**यथा एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वकार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' में प्रयुक्त दृष्टान्त भी इसी बातको स्पष्ट करता है । तत्कालीन वैदिकोंकी अनुपम विजयका एक कारण यह भी है ।

व्यक्तिगत संपत्ति वेदकालीन समाजकी नींव थी । '**ईशानासः पितृवित्तस्य रायः**' में इसकी ओर स्पष्ट संकेत है । तैत्तिरीय संहितामें मनु अगर अपने पुत्रोंमें धन बांटते हुए नजर आते हैं तो बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्य संन्यासको अपनानेके पहले दो पत्नियोंमें द्रव्य बांटनेके लिए उत्सुक दिखाई देते हैं । वैदिकोंकी दानसंस्था एक ओर धनके व्यक्तिगत संचयकी ओर स्पष्ट संकेत करती है तो दूसरी ओर तत्कालीन नीति पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है । ऋग्वेदके दसवें मण्डलका दानसूक्त नैतिक दृष्टिकोणका परिचायक है । इस सूक्तमें संचित धनको केवल अपने सुखके लिए खर्च करनेके बजाय दीनोंका दुःख दूर करने एवं मित्रोंकी सहायता करनेमें उसे लगानेका उपदेश दिया गया है, क्योंकि आर्योंका मत था :—

'न स सखा यो न ददाति सख्ये ।
सचाभुवे सचमानाय पित्वः' ।

इतना ही नहीं

'नार्यमणं पुष्यति नो सखायं ।
केवलाघो भवति केवलादी' ।

यही उनकी धारणा थी । आगे चलकर ईशावास्योपनिषद् में इसी धारणाको दार्शनिक रूप देते हुए ऋषिने लिखा या:—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

वास्तवमें वैदिकोंकी सर्वोपरि विशेषता है सामाजिक कर्तव्योंकी ओर मनुष्यका ध्यान आकृष्ट करना। 'जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणवा जायते' में अभिव्यक्त ऋणकल्पना इसीकी परिचायक है। जन्म लेनेवाला हरेक व्यक्ति ऋषिऋण, देवऋण एवं पितृऋणके साथ ही धरतीपर अवतीर्ण हुआ है और क्रमशः ज्ञानका संचय, यज्ञोंमें आहुतिप्रदान एवं संतानकी उत्पत्ति करके इनसे उऋण होना वैदिकोंकी रायमें उसके लिए नितान्त आवश्यक था क्योंकि 'अनृणः सुवर्गंलोकमेति' यही उनका दृढ विश्वास था।

यह हुई वैदिकोंकी आर्थिक-व्यवस्था एवं उनके द्वारा जुटाए गए भौतिक साधनोंकी कहानी। किन्तु इसे सम्पूर्ण संस्कृतिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। उसके लिए मानसिक साधनोंका, शास्त्रीय प्रगतिका भी लेखा-जोखा उपस्थित करना आवश्यक है। पारस्परिक व्यवहारके मानसिक साधनोंमें पहले पहल भाषा एवं गणितका अन्तर्भाव होता है। इनमें भी भाषाकी अपेक्षा गणितकी प्रधानता है। लेखनिविष्ट भाषा प्रगतिकी परिचायक मानी जाती है। ऋग्वेदके कई सूक्तोंके अन्तमें 'नव्यमतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय' ये शब्द पाए जाते हैं जिनमें सूक्तको काँटने-छाँटने या तराशनेकी बात कही गई है। इसके आधारपर अक्षरोंके तराशे जानेका अनुमान करना गलत नहीं होगा। 'त्रैष्टुभं निरतक्षत' जैसे वाक्योंमें उपमाके विवक्षित न होनेपर भी तक्ष धातु प्रयुक्त हुआ है जिससे मापनेकी या गणनाकी कलाका बोध होता है। 'सात छदोंको अक्षरोंसे नापा जाता है' यह ऋग्वेदीय वाक्य भी इसीकी ओर सकेत करता है। गोपथ ब्राह्मणका अंक शब्द संख्याका वाचक है 'तद्वाप्युपलक्षयेद्वर्णाक्षरपदाङ्कशः' जैसे ब्राह्मण ग्रंथोंके उल्लेख गणनाकी पद्धतिकी ओर संकेत करनेवाले हैं। 'वर्ण' का प्रयोग लिखनेके लिए प्रयुक्त होनेवाले विशिष्ट रंगको सूचित करता है। दशांक पद्धतिके साथ साथ शून्यकी कल्पनाका आर्योंका आविष्कार गणितशास्त्रमें क्रान्तिकारी माना जाता है। 'शून्यमावसथम्' 'शून्यायावसथाय' जैसे शब्द इसी शून्य-कल्पनाकी ओर संकेत करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्का—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यह सुविदित श्लोक गणित शास्त्रकी आनन्त्य (Infinity) की कल्पनाको अभिव्यक्त करता है।

ऋग्वेदके कालसे ही वैद्यकशास्त्र एवं शल्यकर्मकी अविच्छिन्न परम्पराका निर्माण हुआ था। ऋग्वेदके पहले ही मण्डलमें सौ वैद्योंका एवं उनकी औषधियोंका उल्लेख 'शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे-ऽस्तु' में प्राप्त है। ऋग्वेदीय ऋषिकी रायमें वही विप्र वैद्यराज है जो राक्षसों एव रोगोंका विध्वंस करता है और जिसके सामने समितिमें उपस्थित होनेवाले राजाओंकी तरह सभी औषधियाँ इकट्ठी होती हैं? ऋग्वेदके अश्विनौ शल्यक्रिया-विशारद थे जिन्होंने युद्धमें पैरके टूटनेसे असहाय विश्पलाके लिए लोहेका पैर बनवानेकी अनुपम कुशलता दिखाई। विविध रोग, उनके लक्षण एवं उनके आविर्भावके कारणोंकी चर्चा करके अथर्ववेदमें आयुर्वेदके मूलतत्वोंको विशद किया गया है। वैद्यकशास्त्रके इतिहासमें अथर्ववेद की महिमा असाधारण मानी जाएगी।

अचरजकी बात तो यह है कि राज्यसंस्थाको लोकतंत्र या प्रजातन्त्रका रूप प्रदान करनेकी कल्पना भी वैदिकके साहित्यमें दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेदके दसवें मण्डलके १७३वें सूक्तमें राजाके हाथमें राज्यकी बागडोर देते हुए 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु' कहा गया है जिसमें प्रजाकी इच्छाको महत्ता प्रदान की गई है। अथर्ववेदमें सभा एवं समिति द्वारा राजाको सलाह देने एवं उसके शासन पर नियन्त्रण रखनेकी बात अक्सर उठाई गई है। इस वेदमें प्राप्त उल्लेखोंके आधार पर कहा जा सकता है कि सभामें विचारवान् सलाहकार सम्मिलित होते थे और सभामें लोगोंके सभी प्रतिनिधियोंको स्थान दिया जाता था। अथर्ववेदका एक मंत्र है

त्वां विशो वृणुतां राज्याय
त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्य
ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥
(अथर्व. ३।४।२)

इसमें राजाके चुने जाने तथा उसपर रखे गये उत्तरदायित्वका स्पष्ट उल्लेख है। ब्राह्मणग्रंथोंमें राज्याभिषेकका जो विस्तृत वर्णन पाया जाता है उससे स्पष्ट है कि राजाके पदका

स्वीकार वैदिकोंकी दृष्टिमें एक संस्कार था, प्रजाके प्रति कर्तव्योंके पालनके उत्तरदायित्वकी विनम्र स्वीकृति थी, उसे अनिर्बंध अधिकार नहीं माना जाता था। इसी पार्श्वभूमि पर कविकुलगुरु कालिदास द्वारा वर्णित रघुवंशीय राजाओंके '**त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणां यशसे विजिगीषूणां**' जैसे उदात्त व्रतका मर्म समझा जा सकता है।

मानी हुई बात है कि वैदिकोंने यज्ञसंस्थाको महत्ता प्रदान की। यज्ञ उनके सामाजिक जीवनका सार था, उनके सम्मिलित ऐश्वर्यका परिचायक था। उसीके सहारे शक्तिका संचय एवं शत्रुओंका विध्वंस करनेके वे अभिलाषी थे। माना कि ब्राह्मणग्रंथोंके कालमें यज्ञ साधन नहीं रहा साध्य बन गया और एक दृष्टिसे अवनतिके बीज भी इसी समय बोए गए। किन्तु यज्ञोंके तत्त्वविधानमें ही विभिन्न शास्त्रोंका जन्म हुआ और यज्ञसंस्था ही भारतीय दर्शनका उत्स है इसे कौन भूल सकता है? यज्ञके लिए आवश्यक वेदिके निर्माण एवं अग्निकुंडकी रचनाके प्रयत्नोंमें ही भूमितिशास्त्र-का बीज है जिसकी परिणति शुल्वसूत्रोंमें हुई। यज्ञके लिए शुभ मुहूर्तकी खोजमें लगे हुए आर्योंने खगोलशास्त्र एवं ज्योतिर्गणितकी बारहखडी उपस्थित करके उसमें पर्याप्त प्रगति की। शब्दोंको यज्ञके लिए अनुकूल ढंगसे स्पष्ट करनेकी उनकी चेष्टाने निरुक्त एवं व्याकरणशास्त्रको जन्म दिया। यज्ञमें ऋचाओं एवं मन्त्रोंका उच्चारण विशिष्ट ढंगसे याने नियत राग एवं तालके साथ करना पडता था। यही सामगान कहलाता था जो भारतके संगीतशास्त्रका यथार्थ स्रोत है। यज्ञोंमें पशुओंकी बलि देनेकी जो प्रथा थी, उसीसे प्राणियोंके शरीरविज्ञानको बढावा मिला।

इतना ही नहीं, तर्कमूलप्रज्ञामें वैदिकोंने जो प्रगति की उसका मूल भी यज्ञमें देखा जा सकता है। उपनिषदोंके परमपुरुषको कल्पनाका मूल स्रोत है अग्निचयन याने यज्ञ की प्रक्रिया। माना कि 'आत्माको' विश्वसत्यके रूपमें घोषित करनेका गौरव उपनिषदोंको दिया जाना चाहिए किन्तु आत्मतत्त्व पहले पहल अथर्ववेदके ब्रह्मसूक्तमें याने यज्ञसे संबद्ध वस्तुमें ही पाया जाता है। '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' की भव्य कल्पनाका बीज भी ब्राह्मण ग्रंथोंकी 'बन्धुता' की खुरदुरी एवं स्थूल कल्पनामें निहित है क्योंकि यहीं पहले पहल 'There are no two things in this world that are not connected' (जर्मन दार्शनिक तायवेनित्म) का सूत्रपात हुआ था। उपनिषदोंके दर्शनका प्रासाद भी वास्तवमें वेदों एवं ब्राह्मणग्रंथोंकी समृद्धिकी नींव पर खडा है इसे भूलना निरा अन्याय होगा। जीवनके प्रति आशामय एवं निराशामय दृष्टिकोण रखनेवाले आर्योंको ऋग्वेद के कालमें ही 'ऋत' जैसे विश्वव्यापी तत्त्वका साक्षात्कार हुआ था। आकाशके असंख्य तारागणोंमें, मेघोंकी गडगडाहट में, 'शपाओंके सकल निपातमें,' पर्जन्यकी अविरल धाराओं-में तथा नदियोंके निर्मल जल तथा ऊषाके आनंददायी आगमनमें भी उन्हें अनुभव हुआ कि 'प्रकृति नटीके कार्यकलाप' नियमित रूपसे चलते हैं, उनमें किसी व्रतका पालन करनेकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सृष्टिका नियमन करनेवाले इस तत्त्वको उन्होंने 'ऋत' की संज्ञा प्रदान की। इसीलिए देव भी 'ऋतज' एवं 'ऋतावान्' बने। इसीसे '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' जैसा भव्योदात्त कल्पनाका सृजन हुआ, जो आगे चलकर उपनिषदोंके '**एकेन विज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति**' जैसे दार्शनिक रूपमें परिणत हुई।

तात्पर्य यह कि, वेदकालीन आर्योंने इहलोक एवं परलोक के बीच संवादपूर्ण सम्बन्धकी स्थापना की थी। ऐहिक जीवन को सम्पूर्ण शक्ति एवं शोभा समर्पित करनेमें ही परलोककी सच्ची सफलता है इस रहस्यको उन्होंने समझा था। वे वैभवशाली जीवनके उद्गाता थे, वर्धिष्णु एवं जयिष्णु प्रवृत्तिके पुरस्कर्ता थे।

भारतवर्षके नवनिर्माणके स्वप्नको साकार करनेके लिए हमें अपनी आंखोंके सामने वैदिकोंकी ज्ञान-साधना एवं '**सर्वाः प्रदिशो जयेम**' वाली आकांक्षाका आदर्श रखना नितान्त आवश्यक है उसके लिए—

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

की हृदयसे कामना करते हुए

'सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै' के लिए सहर्ष प्रस्तुत रहनेमें ही हमारा कल्याण है।



डॉ. व्रतीन्द्रकुमार सेनगुप्त पीएच्. डी.

मंत्रोंका मंत्र तथा आध्यात्मिक सामर्थ्य

☆

[वेदमंत्रोंका मुख्य उद्देश्य मानवजीवनको उन्नतिशील बनाकर उसे आत्मिक सामर्थ्यसे युक्त करना ही है। वेदज्ञानकी परिसमाप्ति उसके आध्यात्मिक सामर्थ्यमें ही है। आत्मसम्बन्धी ज्ञानकी ही वैदिक संज्ञा " अध्यात्म " है। इस आत्माका वर्णन अनेक वेदमंत्रोंमें आया है। पर वेदोंका यह पक्ष अभी तक पर्याप्त रूपसे प्रकाशित नहीं हो सका। इसलिए वेदोंके इस पक्षसे बहुसंख्यक जन अपरिचित ही है। प्रस्तुत लेखमें वेदोंके इस पक्षपर संक्षेपमें प्रकाश डालनेका स्तुत्य प्रयास किया गया है।]

☆

वेदोंके मंत्र और ब्राह्मणके रूपमें दो विभाग सुप्रसिद्ध ही है। उनमें मंत्रोंमें ही बार बार मंत्र शब्द आता है। उदाहरणार्थ–मन्त्रं मनसा वनोपि तम् (ऋ० १।३१।१३), मंत्रं वदत्युक्थम् (ऋ० १।४०।५), मन्त्रं वोचेमाग्नये (ऋ० १।७४।१। इसी तरह तैत्तिरीयब्राह्मणमें भी मंत्रशब्दकी स्तुति है– अहे बुध्निय मंत्रं मे गोपाय (१।२।१) मंत्रोंका मंत्रत्व क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें जो जो व्याख्यायें तहां तहां दी गई है, उसीका तात्पर्यानुसारी व्याख्यान अपेक्षित है। जैमिनीसूत्रोंमें मंत्रका लक्षण तच्चोदकेषु मंत्राख्या (जै. सू २।१।३२) (विधिवाक्योंकी संज्ञा ही मंत्र है) इस प्रकार दिया गया है। इस सूत्रपर शबरस्वामी मंत्रके अनेकविध लक्षणोंको निर्दिष्ट करते हुए उपसंहार करते हे– अभिधानस्य चोदकेषु एवंजातीयकेषु अभियुक्ता उपदिशन्ति, मंत्रान् अधीमहे, मंत्रान् अध्यापयामः, मंत्रा वर्तन्ते इति। उसी जगह एक वार्तिक भी आया है। अध्येतृवृद्धव्यवहारसिद्धं चेदम्। इसी कारण वेदोंकी रक्षा करनेवाले जिन पदसमूहोंमें मंत्रपदका व्यवहार करते हैं, तथा जिन जिन पदसमूहोंको मंत्ररूपमें स्वय पढते है और दूसरोंको पढाते हे, उसी तरहके पदसमूह मंत्रके नामसे अभिहित होते हैं। वेदरक्षकोंके द्वारा उपयुक्त शब्द प्रयोग ही प्रमाणभूत होते हैं। वेदोंके रक्षक ज्ञानियोंका यह निश्चित मत है कि मंत्रोंकी त्रिविधता सदा मंत्रोंमें ही दिखाई देती है अर्थात् ऋक्संहिताओंमें ही दृष्टिगोचर होती है यथा–

तमर्केभिस्तं सामभिस्तं गायत्रै-
श्चर्षणयः इन्द्रं वर्धन्ति क्षितयः ॥ (ऋ ८।१।२२)

" प्रजायें उसी इन्द्रको ऋचाओं, सामों और गायत्रीके छन्दोंसे बढाती है। " अर्क, साम और गायत्र पदोंसे क्रमशः यजुः, साम और ऋग्वेदका ग्रहण करना चाहिए, इस प्रकार आचार्य सायणका मत है। इस मंत्रमें " गायत्र " पदसे गायत्री आदि छन्दवाले, स्तुतिवाले तथा न गानेके योग्य ऋक्मंत्र अभिहित होते हैं। जैमिनी सूत्रोंमें मंत्रके लक्षणका विधान करनेवाले सूत्रके अलावा इतर तीनसूत्रोंमें क्रमशः तीन तरहके मंत्रोंके लक्षण बताये हैं। उदाहरणार्थ "

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था
(जै सू २।१।३५)

गीतिषु सामाख्या (जै. सू. २।१।३६)
शेषे यजुः शब्दः (जै. सू. २।१।३७)

ऋग्वेदके मन्त्रोंकी नियत अक्षरोंके पादकी व्यवस्था होनेके कारण उनकी संज्ञा " ऋक् " है। एक मंत्र एकही छन्द, पाद तथा अक्षरोंके नियमके अनुसार रचित होनेके कारण उनको संज्ञा " ऋक् " है। यह उनकी व्यवस्था " अर्थवश " अर्थात् अर्थको ध्यानमें रखकर की गई है। जहां जो ऋक् मंत्र षड्ज आदि स्वरों पर गाये जा सकते हैं, वहा उन्हीं ऋक्‌मंत्रोंकी संज्ञा साम है। छन्दोग्योपनिषद्‌में भी इसी आशयका एक वचन है- " तस्मात् ऋचि अध्यूढं साम गीयते " (छा. उ. १।६।५) इसप्रकार साममंत्रोंका उद्‌गम-स्थान या आश्रयस्थान-ऋक्‌मंत्र ही है। इन ऋक् और सामके मंत्रोंके अतिरिक्त जो मंत्र हैं, वे ही यजुके मंत्र हैं, यह जैमिनि महर्षिका अभिप्राय है। इसीलिए यजुषके मंत्र नियताक्षर या पादबद्धवाले मंत्र नहीं हैं, न वे मंत्र स्वरोंके साथ संयुक्त होकर गाये ही जा सकते हैं।

यहां यह शंका उपस्थित हो सकती है- " यदि यजुषके मंत्रोंमें छन्दोंकी व्यवस्था न हो, तो वे ब्राह्मणग्रंथोंके समान ही हो जाएगा। (क्योंकि ब्राह्मणग्रंथोंके वचनोंमें छन्दोंकी कोई व्यवस्था नहीं है।) तैत्तिरीय संहिताकी भूमिकामें पंडित गजाननशर्मा लिखते हैं- छन्दोबद्धभावे ' शेषे ब्राह्मणशब्द ' ' इति शास्त्रात् यजुषां मंत्राणामपि ब्राह्मणवाक्यत्वप्रसंगः " अर्थात् छन्दोंके अभावमें " शेषे ब्राह्मणशब्दः " इस शास्त्रवचनके अनुसार यजुर्वेदके मंत्रों में भी ब्राह्मणवाक्योंके होनेकी अतिव्याप्ति हो जाएगी। " (" वेदवेदिका "- स्वाध्यायमण्डलसे प्रकाशित, पृ. १८) वस्तुतः तो महर्षि जैमिनीने " तच्चोदकेषु मंत्राख्या " इस मंत्रके लक्षणमें छन्दका उल्लेख नहीं किया। नाही इसके आगेके तीन सूत्रोंमें सर्वत्र छन्दोंकी अनिवार्यता पर ही बल दिया है।

मंत्रोंके अर्थके परिप्रेक्ष्यमें उनके आध्यात्मिक आधारका निश्चय करना इतना आसान नहीं है जितना कि वेदोंमें सर्वत्र देवताओंकी स्तुतिका प्रतिपादन करना। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि मंत्रोंका आध्यात्मिक अर्थ ही सम्पूर्ण वेदोंके साथ संगत होता है, इसलिए मंत्रोंकी मंत्रशक्ति तद्‌गत आध्यात्मिक अर्थकी रक्षाके लिए ही है। इस विषयको उदाहरणोंसे इसप्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

भगवान् यास्कके निरुक्तके दैवतकांडके उपोद्‌घातमें दिखाई देता है- " महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते- " देवताओंका बहुविध ऐश्वर्य होनेसे एक आत्माका वर्णन अनेक तरहसे होता है। वहीं पर इस सूत्रको और अधिक स्पष्ट करनेके लिए कहा है- " आत्मा ही रथ है, आत्मा ही घोडा है, आत्मा ही शस्त्र है आत्मा ही बाण है, तथा देवकी आत्मा ही सब कुछ है (आत्मैवेषां रथो भवति, आत्मा अश्वः, आत्मा आयुधः, आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य), वहीं पर कहा है- " एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति। " एक ही आत्माके इतर देव अंग प्रत्यंगरूप होते हैं। इस सबका पर्यालोचन करके हमारा यही निश्चित मत है, कि वेदोंमें जो देवस्तुतियां हैं, वह केवल उस उस देवताके माहात्म्यकी ही स्तुति नहीं है, अपितु रथ-वाहन-आयुध सहित महाऐश्वर्यशाली देवोंके मध्यमें उस उस रूपको धारण करनेके कारण उसी एक आत्माकी वह सब स्तुतियां हैं। वह महान् आत्मा एक ही है वायु-अग्नि-सूर्य-इन्द्र आदि नामरूपसे भिन्न भिन्न देवोंमें वह आत्मा भी भिन्न-भिन्न ही हो, ऐसी बात नहीं है, अपितु अंगभूत सभी देवोंमें वह एक अंगीरूपसे व्याप्त है। इसलिए वही प्रधान नायक है। उदाहरणार्थ- ऋग्वेदका ऋषि कहता है-

रूपं रूपं मघवा बोभवीति।
मायाः कृण्वाणस्तन्वं परि स्वाम् ॥ (ऋ० ३।३।२०)

यहां परमैश्वर्यशाली परमात्मा ही मघवान् इन्द्रके रूपमें देवको धारण करके अपनी मायाके आश्रयसे अनेक रूप धारण करता है। इसीके अनुरूप एक अन्य ऋक्‌मंत्र भी है-

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋ० ४।७।३०)

यही मंत्र बृहदारण्यक उपनिषद् (२।५) में भी आया है। आचार्य शंकरके मतसे यहां इन्द्र शब्द परमेश्वरका वाचक है, वही प्रज्ञानघनरूप परमात्मा नाम-रूपसे व्याकृत होकर सर्वत्र व्याप्त है।

अद्वैतदर्शनमें प्रतिपादित तथा मायोपाधि द्वारा नामरूप समन्वित आत्मतत्त्वका ही ' जन्माद्यस्य यतः ' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह तटस्थलक्षण है और उसी तत्त्वका वर्णन इन्द्रो मायाभिः यहां स्तुति करती है उससे भिन्न तत्त्व और कोई नहीं है।

इसी तरह ऋग्वेदमें ५२ मंत्रोंवाला अस्य वामीयसूक्त अध्यात्मके विषयमें उन प्राचीन ऋषियोंके पाण्डित्यका सर्वोत्तम निदर्शक है। + + +



डॉ. ओंकारनाथ अग्रवाल एम. ए., पीएच्. डी.

पुराणोंमें वैदिकसृष्टि – परम्परा

卐

[भौतिक सृष्टिकी विविधता एवं विशालताने आज तकके विचारकों, सन्तों तथा बुद्धिजीवियोंको भूलभुलैय्येमें डाले रखा है। एक बार जो इस भूलभुलैयेमें जा अटका, वह फिर उससे बाहर न निकल सका। सृष्टि अनन्त है, तो फिर इसका पार कैसे पाया जाए ? ऋषियोंकी भाषामें जो इसका अध्यक्ष परमात्मा है, वह भी " वेद यदि वा न वेद " कौन जानता है ? यह सृष्टि है, यह प्रत्यक्ष ही है, पर इसकी रचना किसने, किससे और किस तरह की, यह अटकलबाजीका विषय रहा है। इस अटकलबाजीसे अनेक सिद्धान्त प्रकट हुए, जो वेदोंमें बीजरूपमे सर्व प्रथम उपस्थित हुए और उन सूक्ष्मसिद्धान्तोंका उपबृहण या विस्तार पुराणोंमें हुआ। इसप्रकार पुराण वेदोंके परिशिष्ट भागके रूपमें मान्य हुए। प्रस्तुत लेखमें पुराणोंके आधार पर वैदिकसृष्टिविद्याको स्पष्ट करनेका प्रयास हुआ है।]

✫

पौराणिकोंने वैदिक परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये सतत प्रयत्न किया। पुराण वेदोंसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनको भी ' वेद ' ही स्वीकार किया है। छान्दोग्योपनिषद्ने तो इन ' पुराणों ' को वेदोंका भी वेद कहा है [१] पचम वेद स्वीकार किया है। मत्स्यपुराण पुराणोंको वेदोंसे भी प्राचीन मानता है क्योंकि इसके अनुसार ' ब्रह्माजीने सर्वप्रथम पुराणका स्मरण किया तत्पश्चात् उनके मुखसे वेदोंका निर्गमन हुआ –[२] ब्राह्मण, स्मृति, उपनिषद्, वाल्मीकीय रामायण आदि अनेक ग्रथोंमें पुराणका उल्लेख है [3] वेदोंमें भी कई स्थलों पर पुराणका उल्लेख किया गया है। [४] इस

---

१. ' इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ' छान्दोग्योपनिषद् ७।१।१

२. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता॥ मत्स्यपुराण ५३।३

३. व्यासस्मृति १।५, ४।४५ गौतमस्मृति ८।२, ११।१ उशना ३।३४, मनुस्मृति ३।२३२
वाल्मीकी रामायण अयो. १६।१, १५।१८, बालकाण्ड ९।१
छान्दो. ७।१।२, बृहदा २।४।११
गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग प्रपाठक. १।१० १।१०, शतपथ ११।५।६।८

४. ऋग्वेद ९।९९।४, ३।५४।९, ' पुराणमोकः सख्यं शिवं वाम ' ऋ. ३।५८।६

+

प्रकार पुराणोंकी प्राचीनता और महत्ता तो प्रतिपादित हो जाती है लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या ये वर्तमान प्राप्य पुराण ही प्राचीन समयमें थे ? क्योंकि वर्तमान प्राप्य पुराणोंमें नंद, मौर्य, शुंग, आंध्र आदि अनेक राजवंशोंका चरित्र वर्णन किया गया है।[५] यहांतक कि भविष्य पुराणमें तो आधुनिकतम विषय भी उपस्थित किया गया है।

ये पुराण तो प्राचीन युगसे ही चले आ रहे हैं लेकिन समयानुसार इन पुराणोंमें परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन आदि प्रक्रियायें होती रहीं। समाजकी मांगके अनुसार इन पुराणोंने भी अपना रूप बदला। डा० वासुदेव शरण अग्रवालके अनुसार वस्तुत गुप्त युगमें प्राचीन ग्रंथोंको प्रतिसंस्कृत करके उनके नये संस्करण युगानुकूलरूपमें तैयार किये गये। यह सब उस प्रकारका साहित्य है जो गुप्त युगकी आवश्यकताओंके लिये सम्पादित और संकलित किया गया। किंतु सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहासकी दृष्टिसे सर्वाधिक मूल्यवान् पुराण साहित्य ही था जो सर्वथा प्रतिसंस्कृत रूपमें ढाल दिया गया था"।[६] अतः पुराणोंका वर्तमान प्राप्यरूप ईसाके प्रथम शताब्दीसे लेकर १० वीं, सदी तक है। कुछ प्रक्षिप्तांश १३ वीं और १४ वीं सदी तकका है।

इन पुराणोंका पुनर्निमाण एक क्रान्तिकारी युगमें हुआ। जिस समय बौद्ध एवं जैन ग्रंथोंका सृजन हो रहा था उस समय ब्राह्मण लेखकोंने चतुर्लक्षश्लोकात्मक नवीन पुराण साहित्यका सृजन किया। इस साहित्यके निर्माणमें ५ प्रमुख धारायें थीं, जिन्हें पुराणकारने 'कृतांतपंचक' कहा है।[७] इनमें 'पंचरात्र' जिन्हें वैष्णव या भागवत भी कहते हैं, उनका पुराण साहित्यके सृजनमें विशेष सहयोग रहा। इन विभिन्न धर्मावलम्बियोंकी वेदों पर घनिष्ठ आस्था थी इस लिए पुराण वेदार्थका उपबृहण करनेके साधन बन गये और 'इतिहासपुराणाभ्याम् वेदम् समुपबृंहयेत्'[८] पुराणोंका रचनाबीज बन गया। इस प्रकार पौराणिकोंने वैदिक विद्याओंकी पुष्टि करते हुये नवीन साहित्य सृजित किया और इस प्रकार पुराणकी परिभाषा 'पुरा नवं इति पुराणं, चरितार्थ की।

इन सभी विद्याओंमें वैदिक – सृष्टिविद्या सबसे महत्त्वपूर्ण थी। वैदिक सृष्टिविद्यामें 'हिरण्यगर्भ' सबसे महत्त्वपूर्ण अंग था और वही सृष्टिके आदिमें विद्यमान था, इसीलिये वेदमें स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" ऋ १०।१२१।१

पौराणिकोंने इसी सिद्धांतको अपनाया, किंतु उसका वर्णन बडे ही सरल व अनूठे ढगसे वर्णनात्मक शैलीमें प्रस्तुत किया। वेदोंके उन प्रश्नोंका, जिनके आगे प्रश्न चिह्न लगे हुये थे, साधारणजनके लिये पहेली बने हुये थे, केवल ऋषिगम्य ही थे ऐसे वे प्रश्न को अद्धा ? को वेद ? किमासीद् ? आदि प्रश्नोके उत्तर पौराणिकोंने अपनी सरल सुबोध शैलीसे साधारणजन तक पहुचानेका प्रयत्न किया। उदाहरणस्वरूप हरिवंशने इन प्रश्नोंका समाधान इसप्रकार किया है। "एकार्णवमें एक योगी स्थित था। वह जलमें अनेकों हजार वर्ष जलसे घिरा हुआ योगमें ही स्थित रहा। उस व्यक्त एवं अव्यक्त योगीको जाननेमें कोईभी समर्थ नहीं हुआ"?[९]

---

५. मत्स्य पुराण

६ मार्कण्डेय पुराण – एक सांस्कृतिक अध्ययन — डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल पृ. ११

७ सांख्या योगाः पंचरात्र वेदाः पाशुपत तथा।
कृतान्तपञ्चकं ह्येतच्छास्त्राणि विविधानि च॥ .वि धर्मो द्वि. अ. २२ (१३३-१३४)

८ ब्रह्मपुराण प्रक्रियापाद अ. १

९ एकार्णवजले योगी ह्यासीद्योगमुपागतः।
अयुतानां सहस्राणि गतान्येकार्णवेऽम्भसि॥
न चैनं कश्चिदव्यक्तं व्यक्तं वेदितुमर्हति॥ हरिवंश ३।९।१९

पुराणोंमें सृष्टिविषय एकार्णवसे प्रारंभ किया गया है। एकार्णवका वर्णन प्रायः सभी पुराणोंमें एकसा प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें इस स्थितिको 'युगान्ततोय' कहा है।[१०] हरिवंशका दार्शनिक विवेचन एकार्णवसे प्रारंभ होता है।[११] पौराणिकोंने एकार्णवका वर्णन जलमग्नपृथ्वी द्वारा निरूपित किया है।[१२] इसी प्रसंगमें उन्होंने सलिलम्, महार्णव, एकार्णव, अगाध, स्तब्ध, युगान्ततोय आदि विभिन्न शब्दावलियोंका प्रयोग किया और निद्रागत नारायण, क्षोभ, अण्ड आदि अनेक उससे सम्बंधित विषय प्रतिपादित किये। इसप्रकार हिरण्यगर्भको सृष्टिविद्याका एक अंगमात्र निरूपित किया।

एकार्णव विचारधारा की मौलिकता वेदोंसे ही अनुप्राणित रही। वेदने भी सृष्टिके प्रारंभमें जलमयस्थितिका वर्णन किया है। नासदीयसूक्तके अनुसार सृष्टिके प्रारम्भमें जल ही जल था और वह पूर्णरूपेण अंधकारमय था।[१३] नासदीय सूक्तकी पुष्टि हरिवंशपुराणने की। उसके अनुसार 'यह एकार्णवजल नीहार (frost) से आच्छादित था'।[१४] इसी 'तम' 'को' गहन व 'गम्भीर भी कहा है' 'अम्भः किमासीद् गहनं गम्भीरं' नासदीय १०।१२९।१ वेदमें इस 'एकार्णवको' 'सलिल'[१५] 'अम्भ'[१६] 'समुद्र'[१७] आदि अनेक नामोंसे अभिहित किया है और वे सभी एक प्रकारकी ही स्थिति निरूपित करते हैं।

वैदिक परम्परामें 'सलिल' से ही हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति हुई और उसीको सृष्टिका सर्वप्रथम रूप स्वीकार किया गया।[१८] वेदने इसी हिरण्यगर्भको अन्यत्र स्थल पर 'सूर्य' भी कहा।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत
अत्रा समुद्र आगूळ्हं आ सूर्यमजभर्तन ॥
(ऋ० १०।७२।७)

'यह सूर्य जो समुद्रमें छिपा हुआ पड़ा था, वह तुम निकालकर ले आये'। "यह हिरण्यगर्भ प्रजापतिका ही रूप है जिसे 'कः' भी कहते है। जिसने द्यौ और पृथ्वीको धारण किया था।"[१९] वेदोंमें सलिलको आप. भी कहा गया।[२०] तथा आप को ऋतकी संज्ञा दी—

अपां सखा प्रथमजा ऋतावा।
क स्विज्जातः कुतः आ बभूव। (ऋ० १०।१६८।३)

इसी ऋत्से अग्निकी उत्पत्ति हुई।[२१] एक अन्य स्थल पर भी—

अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य (ऋ० १०।५।७)

इस प्रकार वेदमे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए और वे सब एक ही अर्थके द्योतक थे। हिरण्यगर्भ, सूर्य और अग्नि, क (प्रजापति) एक ही हैं और वे सब उस 'अपां, सलिल ऋत' आदिसे उत्पन्न हुए इस प्रकार वैदिक परम्परामें—

१० श्रीमद् भागवत २।६।२
,, २५।३४
११ हरिवंश ३।९
१२ ते नगा जलमछन्ना पयसः सर्वतो धराः।
एकार्णवजला भूत्वा सर्वसत्त्वविवर्जिताः ॥ हरि. ३।९।१६
१३ तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। नासदीयसूक्त १०।१२९।३
१४ यथा चैकार्णवजले नीहारेण वृतान्तरे।
अव्यक्तभीषणे लोके सर्वभूतविवर्जिते ॥ हरि ३।१०।३१
१५ 'सलिलं सर्वमा इदम्' नास. १०।१२९।३
१६ अम्भः किम् आसीद् नास. १०।१२९।१
१७ अत्रा समुद्र आगूळ्ह ऋ. १०।७२।७
१८ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
१९ हिरण्यगर्भ. समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
ऋ १०।१२१।१
२० आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् ऋ. १०।१२१।७
२१ आपो ह यद्बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ॥ ऋ. १०।१२१।७

हिरण्य गर्भ = सूर्य = अग्नि= क
अपां = सलिल = ऋत = समुद्र
सृष्टिविद्याका रूप तैयार किया गया

इसी हिरण्यगर्भको वाक्षायणी सूक्तमें मार्तण्डसे सम्बोधित किया गया है। इसी प्रसंगमें एक छोटासा आख्यान भी रचा गया। प्राचीन् समयमें सर्व शक्तिशालिनी आदिमाता अदितिने ८ पुत्रोंको जन्म दिया। सात पुत्रों सहित वह मातृ आदिदेवसे मिलने गई। आठवें पुत्र (मार्तण्ड) को दूर फेंक दिया। [२२] ये सात पुत्र ही सप्त वसु और सात प्राण कहलाये और ८ वां पुत्र मार्तण्ड सवत्सर, चक्रसे संयुक्त होने पर हिरण्यगर्भ बन गया।

इसी परम्पराको ब्राह्मण ग्रंथोंने भी अपनाया। शतपथ ब्राह्मणके अनुसार ' सृष्टिके आदिमें जल ही जल था, अन्य कुछ न था। उस जलमें ब्रह्माने सृष्टिकी इच्छा उत्पन्न हुई और उसने उसमें तप किया। जब जल पूर्ण तप्त हो गया तब उसमें एक अण्डकी रचना होकर ऊपर उभर आया [२३] यह हिरण्याण्ड एक संवत्सर तक जलमें तैरता रहा। सवत्सर बीत जाने पर एक पुरुषकी उस हिरण्याण्डमें रचना हुई जो कि प्रजापति कहलाया और उसने हिरण्याण्डको फोड दिया। [२४] इसीको ऋग्वेदने तपकी महिमासे प्रादुर्भूत हुआ एक ब्रह्म कहा है। [२५]

मनुस्मृति भी वैदिकसिद्धांत स्वीकार करती हुई उसने ब्राह्मण ग्रंथोंका ही अनुकरण किया। सृष्टि विद्याके संदर्भमें मनुस्मृतिका कथन है कि " आदिसृष्टिमें जल ही जल था उसमें एक अण्डकी उत्पत्ति हुई उस अण्डमें भगवान् स्वयं एक संवत्सर तक निवास करते रहे। सवत्सर पूर्ण होने पर उन्होंने स्वयं ही अण्डको दो भागोंमें विभक्त कर दिया और उससे, पृथ्वी, द्यौ, अंतरिक्ष और दिशायें आदिकी उत्पत्ति हुई। [२६]

पौराणिकोंने भी वैदिकयुगसे चली आ रही सृष्टिविद्याको मान्यता दी। सभी पुराणोंमें सृष्टिविद्याका एकही रूप मिलता है। हरिवंश, [२७] भागवत [२८] इसी हिरण्याण्डमतकी पुष्टि करता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण भी एकार्णवकी कल्पना करता हुआ हिरण्याण्डकी आदि उत्पत्ति बतलाता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम एकार्णवमें एक हिरण्याण्ड था जो स्वयंमें ही परिपूर्ण था और वह जलमे घिरा हुआ था। इस अण्डमें ही सभी सृष्टि निहित थी। [२९] इसी प्रसंगमें ' वराहअवतार ' क. भी चित्रण है, जिन्होंने जलमग्न पृथ्वीको ससारके हित करनेके लिये अपनी दाढोंसे ऊपर निकालकर [३०] सृष्टिकी रचना प्रारंभ की।

महाभारतने हिरण्यगर्भ एवं मार्तण्डको सूर्यरूपमें स्वीकार किया और उसकी उत्पत्ति वेदानुसार आदिमाता अदितिसे

---

२२ ' परा मार्तण्डमास्यत् ऋ. १०।७२।८
२३ हिरण्यम आण्डम् सवभूव। श. वा. ११.१ ६
२४ सवत्सरे हि प्रजापतिरजायत।
स इदं हिरण्मयाण्डं व्यरुजत्॥ श. वा. ११।१।६ (२)
२५ तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे, अप्रकेत सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्, तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ऋ. १०।१२९।३
२६ तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थान च शाश्वत॥ मनु. १।१२।१३
२७ हरिवंश ३।९
२८ भाग. २।६।२
,, २।५।३४
२९ अण्डो हिरण्मयो राजन् तस्यान्तः स्वयमेव हि।
अण्डस्याभ्यन्तरं सर्वं तदाम्भोभिः प्रपूर्यते॥ वि. धर्मो. प्र. अ.२
३० महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् एकार्णवजलभ्रष्टमिवार्णव गतः प्रभुः॥
दंष्ट्राग्रेण समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया। आदिदेवो महायोगी चकार जगतीं पुनः॥ वि. धर्मो. प्र. अ. ३

हीं बतलायी। वह हिरण्यवर्ण, हिरण्यगर्भ ही है और उसीको मार्तण्ड कहा तथा इस स्थलपर उन्होंने सूर्यकी संज्ञा दी। उनकी उत्पत्तिमें भी किसी प्रकारका अन्तर न रखा।

'हिरण्यवर्णं य गर्भमदितिर्दैत्यनाशनम्।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः
शांतिपर्व ४७।२३

इसीको पुराण संहितामें तेजपुंज एक प्रकृति या मूल कारण कहा है। आदिमें तेजोमय पुञ्ज था कुछ काल बाद जब तेजमें इच्छाका प्रादुर्भाव हुआ, उसी इच्छाको 'प्रकृति' या 'मूलकारण' इन नामोंसे अभिहित किया गया।

'कियता चैव कालेन तस्येच्छा समपद्यत।
प्रकृतिर्नाम सा प्रोक्ता मूलकारणमित्युत॥
शिवपुराण धर्मसंहिता २।१५

वैदिक संवत्सर[31] पुराणोंका संकुचन और विकसन क्रिया है। विष्णुपुराणमें सकोच और विकासके नामसे उल्लेख किया गया है।[32] येही महाभारतके शांतिपर्वमें हिरण्यपक्ष शकुनिके दो पक्ष कहे गये हे जो सहस्रों वर्षों तक उडनेके लिए पर फैलाये हुए रहते हे।[33] हिरण्यपक्ष शकुनि हिरण्यगर्भ, हिरण्याण्ड, मार्तण्ड और सूर्यसे अन्य कुछ और नहीं है। इसी हिरण्यपक्ष शकुनिको अथर्ववेदमें स्वर्णमय हंसकी संज्ञा दी गई है।[34] और उनके सहस्रों वर्ष तक फैले हुए पंख ही 'संवत्सर' हे जिसमें सहस्रो वर्ष तक किए जानेवाला यज्ञरूपी सृष्टि है।[35] यजुर्वेदमें भी देवताओं द्वारा सृष्टिरूपी पुरुषका यज्ञ, प्रारंभ करनेका उल्लेख है।[36]

प्रजनन क्रियामें मातृतत्त्व और पुंस्तत्त्वका होना अनिवार्य है। उन दोनोंके संयोगसे ही गर्भाधान क्रिया सम्पन्न होती है और वह कलल मातृगर्भमें पक्वावस्था तक स्थित रहता है तत्पश्चात् झीने आवरणरूपी अंडको तोडकर बाहर आ जाता है। ठीक इसी प्रकारकी प्रक्रिया वैदिक व पौराणिक सृष्टिमें है। अथर्ववेदके अनुसार परमेष्ठी विराट् प्रजापतिमें अग्नि वैश्वानर प्राण व तेज गर्भाधान करते हं और जिससे हिरण्यगर्भ, (सूर्य तेज, मार्तण्ड, हिरण्याण्ड) रूपी पुत्रकी उत्पत्ति होती है।

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापति-
रग्निर्वैश्वानरः सह पक्त्याश्रित।
यः परस्य प्राणं परस्य तेज आददे॥
अथर्व० १३।३।५

यह विराज, विराट, प्रजापति, परमेष्ठी मातृतत्त्वके प्रतीक हं और अग्नि वैश्वानर पुंस्तत्त्वके। इस प्रकार पुरुष इन दोनोंके संयोगसे सृष्टिका निर्माण करता है। इसीकी पुष्टि श्रीमद्भागवतने इस प्रकार की है।

स्वधिष्ण्यं प्रतपनः प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।
एवं विराजं प्रतपतस्तपत्यन्तर्बहिर्पुमान्॥
भाग. २।६।१६

डा. वासुदेव शरण अग्रवालने पौराणिक सृष्टि – प्रक्रियामें वैदिकपरम्पराकी छाप दर्शाते हुये लिखा है "विराट् ही वह तत्त्व है जिसे अन्यत्र आपः कहा गया है। इसीमें पुरुष द्वारा सृष्टिका गर्भाधान किया जाता है तभी विश्व व्यक्त भावमें आता है। व्यक्त विश्व ही वैराजपुरुष, हिरण्यगर्भ या नारायण आदि नामोंसे अभिहित हुआ। बृहती आपः प्रकृतिका सर्वव्यापक मातृतत्त्व है पुरुषके संसर्गसे गर्भ धारण करता है और फिर वह पुरुषको ही जन्म देता है जो जन्म लेनेवाला पुरुष है वह अग्नि, यज्ञ, नारायण, विष्णु, सूर्य, हिरण्यगर्भ आदि कई नामोंसे अभिहित किया गया है।"[37]

"यह हैम अण्ड या सोनेका अण्डा उसी आपः तत्त्वकी गर्भित अवस्थाकी संज्ञा है। व्यक्तभावका नाम हिरण्य है। पुरुष द्वारा गर्भके आधानसे जो रूप परिवर्तन हुआ वही हिरण्याण्ड है। सत्यात्मा स्वयंभू ऋत रूपी परमेष्ठीको गर्भित करता है और ऋत सत्यके संयोगसे पुनः सत्यका जन्म होता है। वह सत्य ही हिरण्यगर्भ सूर्य, त्रयी विद्या, यज्ञात्मकविद्या या सत्यनारायण है। सूर्यसे तात्पर्य आकाशमें स्थूल आग्नेय पिण्डसे नहीं, किंतु विश्वके प्रथम अभिव्यक्त होनेवाले तैजस-पिण्डसे है जिससे सूर्य आदि समस्त पिण्डोंका जन्म हुआ और हो रहा है।[38]

---

३१ संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत्। शत० ११।१।६
३२ विष्णुपुराण १।२।३१
३३ हिरण्यवर्णं शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः। शान्तिपर्व ४७।२
३४ सहस्रा ह्ण्यं वियतवस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्। अथर्व० १३।३ १४
३५ यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः। शान्तिपर्व ४७।२
३६ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत॥ यजुर्वेद अ० ३१
३७ मार्कण्डेय पुराण 'एक सांस्कृतिक अध्ययन' डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल पृ ३२
३८ ,, ,, ,, पृ. ३६

प्रो. नित्यानन्द पटेल

भारतीय--संस्कृति और देशभक्ति

卐

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

" यह हमारी मातृभूमि बहुविध भाषाभाषियों तथा बहुविध धर्मावलम्बियोंको एक परिवारके सदस्योंके समान धारण करती है। वह मेरी मातृभूमि न कूदनेवाली गायके समान प्रेमसे धनैश्वर्यकी हजारों धारायें मुझे प्रदान करे।"

अथर्ववेद- १२।१।४५

'महाद्वीपसे विस्तृत भरत-खण्डको, भाषा, धर्म तथा जातियोंकी इतनी विविधता होते हुए भी, हजारो वर्षोंतक एकताके दृढ-सूत्रमें किसने बाँध रखा है? यह ऐतिहासिक चमत्कार देशभक्तिकी भावनाने ही सिद्ध किया है।'

卐

सैकडों वर्षोंकी गुलामीने देशके मानसिक क्षितिजको अवश्य संकुचित कर दिया है। लेकिन यह मान लेनेका कोई कारण नहीं है, कि भारतीय मानस मातृभूमिके विचारसे तथा उसके प्रति अपेक्षित कर्तव्योंसे, पहले भी एकदम अपरिचित ही था। अंग्रेजोंके साथ संपर्क होनेसे ही हम देशभक्तिकी भावनासे प्रथमवार परिचित हुए हैं, इस भ्रान्त धारणाके प्रचलित हो जानेका कारण शायद यही है कि भारतीय संस्कृतिका- जिसके सुदूर धुँधले अतीतपर इतिहासने किंचित् ही प्रकाश डाला है- आवश्यक तटस्थता और सहृदयतासे अध्ययन कम ही हुआ है।

देशभक्तिका पक्का सबूत

भारत विस्तार और विविधताकी दृष्टिसे वस्तुतः एक महाद्वीप है। फिर भी यूरोपके सदृश, परस्पर लडने-झगडनेवाले छोटे-छोटे टुकडोंमें यह विभक्त हो नहीं पाया। प्रतिकूल परिस्थितियोंके होते हुए भी, वर्षोंतक यह अपनी एकता और अखंडता कायम रखनेमें सफल हो सका है। यह महान् सिद्धि, जिसे पश्चिमके ऐतिहासिक एक रहस्य अथवा इतिहासका चमत्कार समझते हैं— भारतके मनस्वी ऋषियोंकी दूरदर्शिताके कारण ही संभव हो सकी है। उन्होंने सभ्यताके उषःकालमें ही, देशके गौरवका तरह-तरहसे दर्शन कराकर, देशवासियोंके हृदयमें स्वदेशभक्ति दृढबद्ध कर दी थी। इस भक्तिने ही महाद्वीपसे विशाल देशको, युगोंतक अखंड रखा है।

वेदोंमें देशभक्तिका विचार

इस प्रसंगमें, अथर्ववेदका पृथ्वीसूक्त विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। ६३ मंत्रोंका यह सूक्त, अनेक दृष्टियोंसे अनोखा हैं। इसके मंत्र-मंत्रमें, देशानुरागकी तीव्रता और दृष्टिकोणकी विशालताके दर्शन होते हैं। प्रकृतिने, जिन अनेक उपहारों और आशीर्वादोंसे, देशको अलंकृत किया है, उनका इसमें भावुकतापूर्ण वर्णन है।

सूक्तके भावोंको, संक्षेपमें, निम्नरूपसे प्रस्तुत किया जा सकता है—

" भारतभूमि, तीन ओर समुद्रोंसे वेष्टित है उत्तरमें उत्तुंग हिमालय, दूर-दूर तक अपनी भुजा फैलाए. इसकी

रात दिवस रक्षा करता है। कल-कल निनादिनी गंगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, वितस्ता आदि देवनदियाँ, इसे उर्वर बनाती हैं। हरे-भरे जंगल और हिमाच्छादित गिरि-मालाएँ, इसे प्रचुर संपत्ति प्रदान करती हैं। वर्षा, वसंत आदि ऋतुएँ बारी-बारीसे, इसका श्रृंगार करती हैं। भाँति भाँतिकी वनस्पतियाँ, यहा फलती-फूलती हैं। विविध रंगोंके रसीले फल, इसकी शोभा बढाते हैं। खेतियां लह-लहाती हैं; रंगबिरंगे पक्षी विविध स्वरोंमें चहचहाते हैं; गाय, बैल, हाथी, घोडे इत्यादि पशु आनंदसे विहार करते हैं। खनिज-संपत्ति और कीमती धातुओंका, यहां अक्षय कोष है। भूमि रत्नगर्भा ही नहीं, असुरोंको परास्त करने-वाले वीरपुत्रोंकी जननी भी है। यहां विविध जातियां हैं; विविध रूढियां हैं, विविध भाषाओंको बोलनेवाले लोग हैं। ये सब विविधताएँ, विरोधका कारण नहीं, परन्तु समृद्धतर जीवनके विकासमें अद्‍भुत रूपसे सहायक हैं। ''

सूक्तका उपसंहार, देशानुरागको उच्चतम आधुनिक भावनाओंसे कितना हृदयस्पर्शी हुआ है—

" माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः "
भूमि माता है, हम उसके पुत्र हैं।
ये ग्रामा यद्‍रण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये सग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

ग्राम, जंगल, सभा समितियों, मंडलों तथा कौंसिलोंमें, मातृभूमिके हितका हम विचार करें और उसे सुन्दर शब्दोंमें प्रकट करें।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना,
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

दीर्घकाल तक ज्ञानकी उपासना करते हुए, हे मातृभूमि! हम तेरी सेवामें अपने सर्वस्वका अर्पण करें।

धर्म-ग्रंथोंमें देशभक्ति-भावना

देशप्रेमके इस प्रकारके पवित्र उद्‍गार, सिर्फ वैदिक साहित्यमें ही नहीं, किन्तु बादके संस्कृतसाहित्यमें भी बराबर पाए जाते हैं। मनुस्मृतिमें—

सरस्वती-दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥

मनु· २।१७

आर्यावर्तको, सरस्वती, दृषद्‍वती आदि नदियों द्वारा शस्यश्यामल और देवशिल्पियोंद्वारा निर्मित देश कहा है। और कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

मनु. २।२०

आर्यावर्तमें उत्पन्न तपस्वी ब्राह्मण, पृथ्वीके सब मानवोंके लिए चरित्रका आदर्श प्रस्तुत करते रहे हैं। दूसरे देशोंके लिए चरित्रका आदर्श उपस्थित करनेवाले सत्पुरुष ही देशभक्तिके मूर्तिमंत रूप कहे जा सकते हैं। एक कविने ठीक कहा है—

'For if I love my country,
I'll try to be a man
My country may be proud of,
And if I try, I can.'

यदि मैं अपने देशसे प्रेम रखता हूं, तो मैं ऐसा इन्सान बननेकी अवश्य कोशिश करूंगा, जिस पर मेरा देश गर्व कर सके। और कोशिश करनेपर मैं सब कुछ कर सकता हूं।

देशभक्तिके इस लक्षणको ध्यानमें रखा जाय, तो कहना होगा, भारतभूमिने बडेसे बडे देशभक्त उत्पन्न किये हैं, जिनकी वीरता, उदारता, सहिष्णुता, निस्वार्थता कर्तव्य-निष्ठा, त्याग-तपस्या पर समूचा संसार आज भी गर्व कर सकता है—

गौतम कणाद से जहां हुए थे ज्ञानी,
जिसमें दधीचि, शिबि सदृश हुए थे दानी।
जो मानी गई सदैव विश्वकी रानी,
जग में कोई देश न जिसका सानी।

—ठाकुर गोपालशरणसिंह

कवि कालिदासने इन्हीं आर्य बुजुर्गोंके महिमासम्पन्न चरित्रकी स्तुति निम्न शब्दोंमें गाई है—

सोऽहमाजन्मशुद्धानां आफलोदयकर्मणाम्।
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥

हमारे बुजुर्ग, जीवनपर्यन्त शुद्धचरित्र, फलप्रासितक कमर कसकर कर्म करने वाले, त्यागके लिए ही अर्थसंचय करने वाले, सत्यकी रक्षाके लिए कम बोलने वाले, कीर्तिके लिए विजयकी कामना करने वाले, बचपनमें विविध विद्याओंका अभ्यास करने वाले, जवानीमें विषयोंकी अभिलाषा रखने वाले, वृद्धावस्थामें वानप्रस्थ धर्मका पालन करने वाले तथा योगसाधना द्वारा शरीरत्याग करने वाले थे। उन्हीं श्रेष्ठ गुणोंने महाकविकी प्रतिभाको बरबस उद्वेलित किया था। हम अपने देशको फिरसे महान् बनानेकी कोशिशमें हैं, *खुशीकी बात है। अपने आर्य बुजुर्गोंकी तरह हम समझ* जायँ कि, देश महान् सदा देशवासियोंके प्रशस्तचरित्रसे ही होता है; अपने आचरणको जो सद्गुणोंसे गौरवशाली बनाते हैं, वे देशकी बहुत बडी पूजा करते हैं; वे ही सच्चे देशभक्त कहाने योग्य हैं।

देशभक्तिका खरा लक्षण : सत्पुरुषोंकी बहुतायत

ठीक है, यह सब तो आत्मस्तुति हुई। आत्मस्तुतिको सब समय सच नहीं माना जा सकता। परकीय, जिसके शील और सद्गुणोंकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करें, उसे ही सच्चरित्र कहना चाहिये। इस कसौटी पर हमारे बुजुर्ग कितने खरे उतरते हैं, यह निम्न उद्धरणोंसे जाना जा सकता है—

"भारतमें ताले चाबीको लोग जानते न थे। क्या कहींपर भी कोई हिन्दुओंकी ईमानदारीके एक जरासे अंशके बराबर भी ईमानदारीकी कल्पना कर सकता है ?"

मेगेस्थनीज (प्रसिद्ध यूनानी राजदूत)

" हिन्दू इतने ईमानदार हैं कि न तो उन्हें अपने दरवाजोंमें तालोंकी आवश्यकता है और न कोई बात निश्चित हो जाने पर उसकी प्रामाणिकताके लिए किसी लिखा-पढीकी।

यूनानी इतिहासकार श्री. स्टैबो (ईसासे पूर्व)

With respect to the ordinary people, although they are naturally light-minded, yet they are upright and honourable. In money-matters they are without craft, and in administering justice they are considerate. They are not deceitful or treacherous in their conduct, and are faithful in their oaths and promises.

चीनी यात्री ह्वेनसांग (६४५ ईस्वी)

हिन्दु लोग सच्चे वीर थे, तभी तो शत्रुके प्रति उनके मनमें लेशमात्र भी वैर नहीं रहता था। इसलिए विश्रामकालमें, वे एक ही नदीमें स्नान करते तथा एक दूसरेको पान सुपारी देते थे। रातको लडना अथवा छिपकर आक्रमण करना, वे लोग जानते ही न थे। सत्यनिष्ठाके प्रति पूरी सावधानी रखते थे; शत्रुकी किसी प्रतिकूल परिस्थितिसे लाभ उठानेको वे अपमानजनक समझते थे। अपकीर्तिको वे सदा *मरणसे भी अधिक बुरा मानते थे।"*

एक पुर्तगाली लेखक.

किसी देशकी इससे बढकर प्रशस्ति और क्या हो सकती है ? परदेशियों द्वारा की गई इन प्रशस्तियोंसे हमारा मस्तक गौरवसे ऊंचा उठता है। आर्य बुजुर्गोंके महान् चरित्रको हमारा शतवार वंदन हो !

सच कहा है, कि देशवासियोंकी वीरता, सत्यनिष्ठा, नैतिकता और सच्चरित्रतासे बढकर कीमती नैवेद्य देशभक्तिका कुछभी नहीं। जिस आचरणसे देशका गौरव बढे, नाम ऊंचा हो, वही देशभक्ति है। देशभक्तिके इस सही अर्थको समझा गया होता, तो इतिहासकार भूल न खाते। वे भारतीयोंको जिन्होंने अपने विशुद्ध आचरण द्वारा पूर्व और पश्चिमको सदियों तक सच्चरित्रकी शिक्षा देनेका महान् कार्य किया है- देशभक्तिकी भावनासे अनजान कहनेकी हिम्मत न करते।

धर्मग्रंथ और देशभक्ति

हम कह रहे थे कि संस्कृतसाहित्य देशभक्तिकी भावनासे ओतप्रोत है। विष्णुपुराणमें भारतको 'सब देशोंसे श्रेष्ठ' कहा है, और कहा है " देवता लोग भी भारतमें जन्म लेनेके लिए सदा लालायित रहते हैं—

' दुर्लभं भारते जन्म '

ध्यान देने योग्य बात है कि ऋषियोंने भारतमें जन्म होना दुर्लभ कहा है। ' दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म, अथवा तो ' दुर्लभं बंगेषु जन्म ' इत्यादि कहकर प्रांतीयताकी भावनाका पोषण नहीं किया है; अपितु सच्ची राष्ट्रीय भावनाको ही लाक्षणिक ढंगसे अभिव्यक्त किया है।

वेद, स्मृति तथा पुराण आदि भारतीय जनताके पवित्र धर्मग्रन्थ हैं। इन ग्रंथोंने अपने देशको, ' जननी ' ' भूमि पर विद्यमान स्वर्ग, ' ' तप सिद्धिका पुण्यक्षेत्र ' तथा ' मोक्षका द्वार ' इत्यादि अनेक रूपोंमें प्रस्तुत कर, जनताके हृदयमें देशभक्तिकी भावनाका बीज बोया था। इन्हीं सब ग्रन्थोंके प्रयत्नसे भारतीय जनताने अपनी मातृभूमिको कल्याणकी वृष्टि करनेवाले और जीवनको परिपुष्ट करनेवाले एक आराध्यदेवके रूपमें देखना सीख लिया था। भारतके सिवाय किसी अन्य देशमें मातृभूमिको देवमालाके देवताओंमें प्रतिष्ठित स्थान मिला हो, हमने नहीं सुना। भगवान् की आराधनाके समान, मातृभूमिकी सेवाको भी भारतमें एक आवश्यक धार्मिक कृत्यका रूप मिल गया था। भारत की अखंडताका रहस्य इसी गंभीर भावनामें निहित है।

देशकी रूप-माधुरीका अमर गीत

इस प्रसंगमें, महाकवि कालिदासकी अपूर्व राष्ट्रभक्तिका उल्लेख करना आवश्यक है। सरस्वतीके इस वरदपुत्रको सौन्दर्य और श्रृंगारका ही कवि समझ लेना भारी भूल होगी। वह तो अपने देशकी इंच-इंच जमीनसे, उत्कट अनुराग रखनेवाला राष्ट्रप्रेमी कवि है। उसके मेघदूत ' काव्यसे यह पता चलता है कि भारतके वन–पर्वतों, नदी–निर्झरों, मंदिर–उद्यानों, पेड-पौधों तथा पशुपक्षियोंको, उसने किस प्यारभरी निगाहोंसे देखा था। पंक्ति–पंक्तिमें उसके प्रेमकी धडकन है, जो पाठक–मात्रके हृदयको स्पंदित करती है। जिसने ' मेघदूत ' पढा है, उसका रोम–रोम भारतभूमिकी रूपलक्ष्मीसे झूम न उठा हो, यह संभव ही नहीं। आचार्य शुक्लने ठीक ही कहा है—

' पूर्वमेघ तो यहांसे वहांतक, प्रकृतिकी एक मनोहर झांकी या भारतभूमिके स्वरूपका ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूपके ध्यानमें अपनेको भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है, वह घूम–घूम कर वक्तृता दे या न दे, चंदा इकट्ठा करे या न करे, सच्चा देशप्रेमी है। ' मेघदूत ' न कल्पनाकी क्रीडा है, न कलाकी विचित्रता। वह है प्राचीन भारतके सबसे भावुक हृदयकी, अपनी प्यारी भूमिकी रूपमाधुरी पर सीधी–सादी प्रेम दृष्टि। '

महाकवि स्वदेशके अनुपम रूपलावण्य एवं शोभा-समृद्धिसे पाठककी आँखें भर-भर देता है, और उसके अंतरको स्वयं आंदोलित व स्नेहार्द्र होनेको छोड देता है। संसारके किसी अन्य देशके साहित्यमें, देशप्रेमकी भावनाकी ऐसे गभीर और रसात्मक रूपमें अभिव्यक्ति हुई हो, हम नहीं जानते। महाकविकी सरस कलाकृतिके सम्मुख सर वॉल्टर स्कॉटका देशभक्ति संबंधी निम्न भावपूर्ण गीत, अपेक्षाकृत बधवत् (prosaic), इतिवृत्तात्मक तथा सीधा उपदेश सा प्रतीत होता है :—

Breathes there the man, with soul so dead
Who never to himself hath said,
This is my own, my native land !
High though his wealth as wish can claim;
Living shall forfeit fair renowm,
And doubly dying shall go down
To the vile dust, from whence he sprung,
Unwept, unhonoured and unsung

इस तुलना द्वारा इंग्लिश कविके प्रयासकी अवगणना करना बिल्कुल अपेक्षित नहीं है। जरूरत यह है कि स्वदेशके साहित्यको, समस्त हीनताकी ग्रन्थियोंका परित्याग कर, फिरसे प्रेमपूर्वक पढा जाय।

व्यवहारमें देशभक्ति

साहित्यकी ही बात नहीं है, भारतीय वीर योद्धाओंकी अनुपम देशभक्तिकी गौरवगाथा, यूनानके इतिहासके पृष्ठों पर भी अंकित है। विभिन्न देशों और साम्राज्योंका विध्वंस करती हुई महान् सिकन्दरकी विजयवाहिनी बडी आन और शानसे भारत पहुंची। महत्त्वाकांक्षा थी, भारतभूमिको पादाक्रान्त करनेकी, और उसे अपने विशाल साम्राज्यका ही अंग प्रत्यंग बना लेनेकी। लेकिन उस विजयवाहिनीको यहां आगे बढनेके लिए और चप्पा–चप्पा जमीन जीतनेके लिए भारतीय योद्धाओंका जबरदस्त मुकाबला करना पडा। दिन पर दिन गुजरते गए। विजयवाहिनी हताश हुई। सिकंदरका स्वप्न भग हुआ। भारतविजयकी महत्त्वाकांक्षा पहलूमें छिपाए वह स्वदेश लौट जानेको लाचार हुआ। अपनी आँखोंसे जिसने वह समृद्धि देखी थी, उस महान् विजेतासे पूछिए— भारतीय योद्धाओंकी बहादुरी और देशभक्ति आदिने उसका हृदय किस कदर जीत लिया था, और

+

विस्मय विमुग्ध किया था ? वीर ही वीरोंकी बहादुरी बराबर आँक सकता है। कैसा सुनहला इतिहास है ?

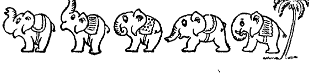
इतिहासकारो। तुम धन्य हो ! ! हमारे देशके इतिहासको तुमने ऐसी दक्षतासे तोडा मरोडा कि स्वयं हम भी मानने लगे, कि हमारे देशमें विदेशियोंके आगमनसे पूर्व देशप्रेम नामकी कोई वस्तु थी ही नहीं।

देशभक्ति : राष्ट्रवाद

यूनानकी समृद्धिके दिनोंमें, सिकंदरने किस प्रकार आसपासके छोटे-छोटे देशोंको रौंद डाला था, उसी प्रकार भारतने भी अपनी बढतीके दिनोंमें, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, कम्बोडिया, सिलोन, अफगानिस्तान आदि देशोंको रौंद डाला होता, तो इतिहासकार नतमस्तक होकर जरूर कहते कि, भारतीयसंस्कृति देशभक्तिकी भावनासे ओतप्रोत थी। भारतका यही अपराध था कि, उसने कमजोरसे कमजोर देशकी स्वतन्त्रताका सम्मान किया; उसने तलवार न उठाई; खूनकी होली न खेली; लोगोंको त्रस्त न किया। उसके संस्कृतिके दूत भी भिक्षापात्र लेकर, पर्वतों और समुद्रोंको लांघकर दूर-दूर देशोंमें पहुंचे थे। परंतु उन्होंने, 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' 'अमृतस्य तु नाशास्ति वित्तेन' आदि शास्त्र-वचनों द्वारा सूचित त्याग, सहिष्णुता और सदाचारके सदुपदेशोंको, अपने आर्य-जीवन द्वारा चरितार्थ करते हुए, उन-उन देशोंको मुग्ध ही किया था। शताब्दियों पहले, संस्कृतिके इन दूतोंने उन-उन देशोंपर साधुताकी जो छाप छोडी थी, वह आज भी मिटी नहीं है। कैसी गहरी थी यह देशभक्ति ! ! लेकिन जो साधुताको शक्तिहीनता माने, लाल-लाल आँखोंको और बुखारकी गर्मीको स्वास्थ्यका चिह्न समझे, और दुर्बल देशोंकी स्वतंत्रता कुचलनेको असीम राष्ट्रभक्ति माने, उन्हें सच्चाई कौन समझा सकता है ?

भारतने राष्ट्रवादकी कभी पूजा नहीं की, यह कोई कमजोरी नहीं, गर्वकी बात है। देशभक्ति और राष्ट्रवादमें जमीन आसमानका अन्तर है। भूमंडलको पादाक्रान्त करनेकी शक्ति होते हुए भी, क्षुद्रसे क्षुद्रकी स्वतंत्रताके अपहरण करनेका विचार भी मनमें न लाना; यही तो भारतकी राष्ट्रीयता है, देशभक्ति है, रीति-नीति या संस्कृति है। दूसरे देशोंकी दुर्बलताका लाभ उठाना, उन्हें लूटकर अपने देशको समृद्ध करना, देशभक्ति नहीं, राष्ट्रवाद है।

यह राष्ट्रवाद देश देशके बीच ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-नफरत एवं शीत युद्ध उपजानेवाला है। देशभक्ति सात्त्विक भाव है, जब कि राष्ट्रवाद राजसी। एक देशोंमें मेल-मिलाप या सह अस्तित्व चाहता है, दूसरा प्रभुत्व स्थापित करनेको आतुर होता है। एक विश्वमें संस्कृतिका प्रकाश फैलानेको उत्सुक है, दूसरा साम्राज्यवादका भूखा है। एक सुख-शांतिका प्रचार करता है, दूसरा अस्त्र-शस्त्रोंकी अनिच्छनीय होडको उत्तेजन देता है। हमारे बुजुर्ग इस भेदको भली-भाँति जानते थे। इस भेदको भुलाकर, देशभक्तिके नामपर राष्ट्रवादको बढावा देनेका परिणाम कैसा भयंकर होता है, यह पश्चिमी देशोंसे अथवा बीसवी शतीके इतिहासकारोंसे पूछिये। यह भी पूछिये कि युद्धकी तैयारीके लिये, वर्षोंवर्ष जितना खर्च किया जा रहा है, उतना ही खर्च गरीबोंको खिलाने-पिलानेपर किया जाय, तो सबको भरपेट अनाज मिल सकता है या नहीं ? यदि उत्तर हाँमें हो, तो पूछिये कि भूल कहाँ है, और सब अनर्थोंकी जड क्या है ?



डॉ श्रुतिशील शर्मा, एम. ए., पीएच्. डी.

पतितपावनी वैदिकसंस्कृति तथा पतितपावनी गंगा

☆

आज भारत भले ही कितना भी अवनत हो चुका हो, पर वह आज भी अपनी दो चीजों पर गर्व कर सकता है। ये दो चीजें हैं – (१) वैदिकसंस्कृति तथा (२) गंगा। देववाणी और देवनदी आज भी दु:खत्रयसे सन्तप्त मानवताको देव बननेकी प्रेरणा दे रही हैं।

किसी भी संस्कृतिके मूल्यांकनकी कसौटी इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उस संस्कृतिका साहित्य प्रचुर है, या उस संस्कृतिके उन्नायक बहुत हुए हैं, अपितु उसकी वास्तविक कसौटी इस पर अवलम्बित है कि वह संस्कृति मानवताकी कितनी उन्नायक है अथवा वह मानवताकी उन्नतिके कार्यमें कितनी उपयुक्त है। मानवताकी उन्नतिको सिद्ध करनेवाली संस्कृति ही सदा जीवित और जागृत होनेका दावा कर सकती है। ऐसा दावा आज तक यदि कोई संस्कृति कर सकी है, तो वह केवल " वैदिकसंस्कृति " ही है। जहां यूनानी, बेबीलोनियन तथा मिश्रीय संस्कृतियां आज पिरामिडोंके नीचे दबकर रह गई, वहां वैदिकसंस्कृति आज भी अमरवृक्षकी तरह लहलहा रही है। अन्य संस्कृतियाँ बरसाती नदियोंके समान जोरशोरसे उमडीं और सूख भी गईं, पर वैदिकसंस्कृतिका प्रवाह गंगाकी तरह आज भी अनवरत बहता हुआ अपने स्पर्शसे जगत्‌को शान्तिका सन्देश दे रहा है।

भारतकी भूमिको अपनी जलधारासे सींचकर पवित्र करनेवाली देवनदी गंगाकी महिमाका आकलन इसलिए नहीं होता कि वह हिमालयसे निकली है, या पुराणोंके अनुसार वह भगवान् शिवकी जटाओंसे निकली है, अपितु भारतीयोंके अन्तस्तलोंमें गंगाकी महिमा पतितपावनीके रूपमें सर्वोपरि है, उसका वही रूप लोगोंको आकर्षित किए हुए है, उसीरूपमें वह सबके लिए पूज्य है। जब तक उसके प्रति लोगोंका यह भाव रहेगा, तब तक वह पूज्य ही बनी रहेगी। ठीक वही स्थिति वैदिकसंस्कृतिकी भी है। इसमें शक नहीं कि यह संस्कृति अनेक ऋषियोंके जीवनसे सींची गई है, पर उसीके कारण यह संस्कृति आज तक जीवित-जागृत रही और आगे भी रहेगी, इस बातको मान्य करना जरा कठिन ही होगा।

वैदिकसंस्कृतिकी महत्ता उसके अपने उदात्त गुणोंके कारण है। वह ऋषिप्रणीत होनेसे ही महिमामय है यह मानना वस्तुतः उस संस्कृतिको संकुचित बनाना है। क्योंकि वैदिकसंकृति अपने पूज्यभावके लिए किसी व्यक्तिविशेषकी ऋणी नहीं है। उसकी रचना अव्यक्त हाथों द्वारा हुई है। उदाहरणार्थ– मुस्लिमसंस्कृतिमेंसे यदि मुहम्मदसाहबको निकाल दिया जाए, तो वह संस्कृति ताशके महलकी तरह उसी क्षण ढह जाएगी, इसी तरह ईसाईसंस्कृतिसे ईसाको खदेड दिया जाए तो वह संस्कृति निष्प्राण हो जाएगी, क्योंकि वे दोनों संस्कृतियां उन व्यक्तिविशेषोंपर उभारी गई हैं। पर वैदिकसंस्कृतिमेंसे तो कोई चाहे दयानन्दको निकाल दे, कृष्णको अलग कर दे, अन्यान्य ऋषि – महर्षियोंको अलग कर दे, तो भी वह वैसी ही खडी रहेगी। गंगामें यदि अन्य नदीनाले आकर न भी मिलें तो भी वह सदा बहती ही रहेगी। क्योंकि वह अपने प्रवाहके लिए अन्य नदीनालोंपर निर्भर

नहीं है। उसका प्रवाह अक्षुण्ण है। यह सच है कि इतर नदीनाले गंगाके कलेवरमें वृद्धि अवश्य करते हैं, पर यदि वे न मिले तो गंगाका प्रवाह बंद हो जाएगा, ऐसी कोई बात नहीं है। वैदिकसंस्कृति भी एक गंगा ही है इसमें अनेक महापुरुषों तथा सम्प्रदायोंने मिलकर इसके कलेवरमें वृद्धि की, पर वैदिकसंस्कृतिका प्रवाह तो तब भी था ही कि जब ये सम्प्रदाय तथा महापुरुष अस्तित्वमें नहीं थे।

दोनोंका समान उद्गम स्थान

आश्चर्य यह है कि सुरवाणी और सुरनदी इन दोनोंका उद्गमस्थान एक ही है। दोनों ही हिमालयसे आविर्भूत हुए। गंगाका उद्गमस्थान गंगोत्री हिमालयके हृदयमें ही है और वह स्पष्ट ही है। पर वैदिक आर्योंका उद्गम स्थान भी हिमालय ही है। महर्षि दयानन्दके अनुसार वैदिक आर्योंकी सर्वप्रथम सृष्टि त्रिविष्टप (आधुनिक तिब्बत) के शिखरों-पर हुई। तिब्बत हिमालयका ही एक भाग है। इन्हीं प्रदेशोंमें विचरते हुए ऋषियोंने वैदिकसंस्कृतिका स्वरूप निश्चित किया, फिर नीचे मैदानी इलाकोंमें उतरकर उस संस्कृतिका प्रचार एवं प्रसार किया। सम्पूर्ण ऋग्वैदिकसंस्कृतिका स्वरूप उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां ही अपने ठोस-रूपमें आया। यदि गंगा हिमवान्‌के हृदयोंसे निकली है, तो वैदिकसंस्कृति भी ऋषियोंके हृदयोंसे प्रस्फुरित हुई है। उपनिषदोंके अनुसार हृदयमें अमृततत्व निहित है, इसलिए जो भी बातें हृदयसे निकला करती हैं, उसमें अमृतका अंश अवश्य होता है। इसीलिए ऋषियोंके हृदयोंसे निकलनेके कारण वेद अमृतवाणी तथा हिमवान्‌के हृदयसे निकलनेके कारण गंगा अमृतनदी कहलाई।

भौगोलिक दृष्टिसे भी आर्यावर्त और गंगाका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है। महाराज मनुके " हिमवद्वि-न्ध्ययोर्मध्ये आर्यावर्तं प्रचक्षते " इस कथनके अनुसार हिमालय और विन्ध्याचलके अन्दरकी भूमि ही आर्यावर्त है। इस आर्यावर्तमें गंगाका प्रवाह है, जो गंगोत्रीसे निकलकर बनारस, प्रयाग आदि प्रदेशोंसे बहती हुई बंगालकी खाडीमें इस प्रकार गिरती है, कि वह बिल्कुल एक कण्ठहारसी प्रतीत होती है। मानों विधाताने आर्यावर्तकी भूमिको कण्ठहारसे विभूषित करके ही रखा हो।

पतितपावनत्वका गुण

पतितपावनत्वका गुण दोनोंमें समान है। गंगाके बारेमें भाविकोंकी मान्यता है हो—

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं च गच्छति॥

उसी तरह वेदमाता भी अमृतप्रदायिनी है, वेदमाताके बारेमें ऋषिकी घोषणा है—

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। (अथर्व. १९।७१।१)

वेदमाता भी ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाली है। गंगा तो पापप्रक्षालिनी तथा पावनीके रूपमें जगत्प्रसिद्ध ही है। वेदमाता भी ' पावमानी ' है, वह ' प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानां ' के रूपमें आज भी सर्वतोमान्य है। ऋग्वेदका नवममंडल ' पवमान मंडल ' की संज्ञासे अभिहित होता है। उस मंडलके जपकी फलश्रुति है कि इस मण्डलका प्रतिदिन पाठ करनेवाला हर तरहके पापोंसे छूटकर पुण्यशाली हो जाता है।

जिस तरह गंगामें मिलनेवाले अनेक नदीनाले भी यहां तक कि शहरोंसे निकलकर बहनेवाले गन्दे नाले भी गंगामें मिलकर गंगाका स्वरूप धारण करके पवित्र नदीकी सत्ता धारण कर लेते हैं और गंगाके स्पर्शमात्रसे वे भी पवित्र बन जाते हैं, उसी तरह वैदिकसंस्कृतिके स्रोतमें आकर मिलनेवाले इतर सम्प्रदाय या मत भी वैदिकसंस्कृतिके संसर्गसे उसके पवित्र स्वरूपको धारण कर लेते हैं। पुराणोंमें भले ही कितनी भी गप्पबाजियां हों, पर जब उनका वेदोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और वेदसिद्धान्तोंके साथ पुराणोंके सिद्धान्तोंका तालमेल बैठाया जाता है, तब उनकीभी महिमा दुगुनी तिगुनी बढ जाती है। अतः जिसप्रकार नदी नालोंसे गंगाका महत्त्व न बढकर गंगासे ही उन नदी-नालोंकी महिमा बढती है, उसी तरह पौराणिक सम्प्रदायोंसे वैदिकसंस्कृतिकी महत्ता नहीं बढती अपितु वैदिकसंस्कृतिके साथ साम्यता रखनेके कारण ही उन पौराणिक सम्प्रदायोंकी महत्ता है। वेद स्वतः प्रमाण और स्वतः पवित्र हैं, इसलिए उनकी प्रामाणिकताको स्थापित करने या उन्हें पवित्र बनानेके लिए किसी इतर ग्रंथ या ग्रंथसम्प्रदायकी आवश्यकता नहीं होती। गंगा भी स्वयं पवित्र है, उसे पवित्र करनेके लिए किसी इतर नदी या नदीसमूहकी आवश्यकता नहीं है। ये दोनों तो पारसमणियां हैं कि जिनके स्पर्शमें आते ही सब कुछ सोना बन जाता है। पारसमणिमें भी एक कमी है कि वह केवल लोहे या ताम्बेको ही सोना बना सकता है, मिट्टीको

नहीं। पर वैदिकसंस्कृति और गंगा तो महापापियोंको भी पुण्यशाली बना देती है।

वैदिकसंस्कृतिकी एक और भी मान्यता है कि मनुष्य भले ही किसी भी मत या सम्प्रदायका माननेवाले हो, पर यदि वह मननशील है, मानवताका रक्षक है, सर्वत्र मानवताका प्रसारक है तो वह मोक्षका अधिकारी है। वैदिकसंस्कृतिकी यह विशेषता उसकी सर्वातिशायिनी विशेषता है। यह विशेषता इतर धर्मोंमें अलभ्य है। उदाहरणार्थ-ईसाई धर्मके अनुसार कोई भी मनुष्य तब तक मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता जब तक वह ईसाई न बन जाए। यही बात मुस्लिम धर्ममें भी है। उनके अनुसार मोक्ष तो केवल मुस्लिम धर्मानुयायियोंके लिए ही सुरक्षित है। पर वैदिकधर्मके अनुसार मोक्षप्राप्तिका अधिकारी दुनियाका कोई भी व्यक्ति हो सकता, भले ही वह किसी भी धर्म या सम्प्रदायमें विश्वास रखनेवाला हो। पर एक शर्त है कि वह सच्चा मनुष्य हो, उसके अन्दर मानवता जीवित हो। इसीलिए ऋग्वेद प्रथम लोगोंको "मनुर्भव" (हे मनुष्य! तू पहले मनुष्य बन) का सन्देश देता है। सच्ची मानवता यही है कि जब मनुष्य दूसरोंके दुःखका हरण करनेके लिए आगे बढता है। इसी मानवताके सिद्धान्तने वैदिकसंस्कृतिमें अहिंसा, दया, करुणा आदि सद्भावोंको जन्म दिया तथा अहिंसा आदि सद्भावोंने निर्बलोंकी सुरक्षाका मार्ग प्रशस्त किया। पर दुःखहरणरूप मानवताके भावोंके आगे अनेकों महापुरुषोंने दुर्लभ्य मोक्षको भी ठुकरा दिया। भगवान् श्रीकृष्णकी यही घोषणा थी—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

कृष्ण कहते हैं- "न मुझे राज्यकी अभिलाषा है, न स्वर्गकी और न मोक्षकी। मैं तो सिर्फ दुःखसे सन्तप्त प्राणियोंके दुःखोंको दूर करके उनके आर्तनादको नष्ट करना चाहता हूँ।" इसीकारण तो श्रीकृष्णका एक नाम "जनार्दन" भी पडा, वे जन-अर्द-न अर्थात् जनोंकी आर्ति को नष्ट करनेवाले थे।

परार्तिको नष्ट करना ही सच्ची मानवता है। इसी मानवताकी नींवपर वैदिकसंस्कृति खडी की गई। इसीलिए वैदिकधर्म या संस्कृति अन्य धर्मोंके खण्डनके बखेडेमें नहीं पडती, वह तो अपने शान्तिमय सन्देशोंका प्रसार करती हुई चली जाती है, जो दुःखसंतप्त हो, वह इन सन्देशोंकी छायामें आकर शान्तिसुखका लाभ कर सकता है। गंगा भी इसी तरह अपने शीतल अमृतमय जलसे प्यासी भूमि, प्यासे पशुपक्षी तथा इतरोंको भी तृप्ति प्रदान करती हुई अखण्ड गतिसे बही जारही है और अनन्त काल तक बहती रहेगी।

पतितपावनी वैदिकसंस्कृति और पतितपावनी गंगा जब तक इस भूतल पर रहेंगी, तब तक भारतका नाम अक्षुण्ण रहेगा, उसकी सत्ता रहेगी और उसका गौरव रहेगा।

जब बीज भूमिमें बो दिया जाता है, तो उसका बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है। बाह्य आवरणसे मुक्त होने पर ही बीजमें उगनेकी शक्ति आती है, उसके हटते ही वह उगने लगता है। इसी भांति हमारी आत्मा भी एक बाह्य कलेवरसे ढका हुआ होता है। इसके कारण आत्माके गुणोंका विकास नहीं हो पाता, अतः इस रुकावटको दूर करके उसके आभ्यन्तरिक गुणोंका पूर्ण विकास करना ही संस्कृतिका कार्य है। वैदिकसंस्कृतिमें यह विशेषता सन्निहित है।



प्रो० रवीन्द्र अग्निहोत्री

वयं स्याम पतयो रयीणाम्

वैदिक संस्कृतिकी गणना विश्वकी प्राचीनतम संस्कृतियोंमें की जाती है। इतिहासविदोंमें इस विषय पर भले ही मतभेद हो कि मानव– सृष्टिकी आदिम अवस्थासे लेकर सभ्यताकी दृष्टिसे चरम उत्कर्षकी अवस्था तक आते–आते मानव जातिको कितना समय लगा, या विकासका क्रम क्या रहा, पर संस्कृतके अध्येताओंमें इस विषय पर कोई दो सम्मतियाँ नहीं हो सकतीं कि वैदिक वाङ्मयके द्वारा स्पष्ट होने वाली एवं प्रकाशित होने वाली सभ्यता और संस्कृति मानवविकासका और भौतिकता एक शीर्षबिंदु है। साथ ही 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववाराः'– विश्वकी प्रथम संस्कृति यह वेदकी ही संस्कृति है।

प्रायः भारतीय तथा अभारतीय अनेक विद्वानोंने यह प्रचारित किया है कि वैदिकसस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति है, भौतिक संस्कृति नहीं। इन शब्दोंका अर्थ जब यह निकाला जाता है कि वैदिकसंस्कृति मानव–जीवनकी आर्थिक क्रियाओंकी, समाजके आर्थिक पक्षकी उपेक्षा करती है या उसे गर्हित मानती है तो बात ठीक नहीं जँचती। वस्तुतः भ्रान्ति तो वहाँसे शुरु हो जाती है जब हम संस्कृतिको आध्यात्मिक और भौतिकके खंडोंमें बांटते हैं। क्या आध्यात्मिकता एक ही वर्गकी दो चीजें हैं या एक दूसरेके समकक्ष हैं जो संस्कृतिका विभाजन इनके आधार पर किया जाए? संस्कृति तो सूक्ष्म होती है। वह स्थूल उपादान तो नहीं जो भौतिक हो! स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजकने एक स्थान पर लिखा है, "Civilisation is an expression of flesh while culture is the manifestation of soul" सभ्यता शरीरके मनोविकारोंकी द्योतक है जबकि संस्कृति आत्माके अभ्युत्थानकी संदर्शिका है। सभ्यताका उत्थान मानवको भौतिकवादकी ओर ले जाता है जबकि संस्कृति मानवको अन्तर्मुखी बनाकर उसकी आत्माके गुणोंको, सात्त्विक गुणोंको प्रकट करती है। संस्कृति आत्माकी वस्तु है आत्माके उत्थानका चिह्न है, आत्मिक उत्कर्षका सोपान है, आत्मदर्शनका मार्ग है। यदि सभ्यता अपरा विद्या है तो संस्कृति परा विद्या है। सभ्यताका शारीरिक आवश्यकताओंसे संबंध है जबकि संस्कृतिका आत्माके सात्त्विक गुणोंसे संबंध है। भौतिक तो सभ्यता होती है न कि संस्कृति! सभ्यता एक स्थूल आवरण है जो कभी भी थोड़ेसे प्रयाससे हटाया जा सकता है। अपने ही देशमें कलतक सभ्यता तुर्कोंकी थी आज अंग्रेजोंकी है। पर संस्कृति आत्माका संगीत है, मानवात्माका रूप है। उसे बदला नहीं जा सकता।

सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातुमें भूषण अर्थमें सुट्का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगानेसे संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। भूषणभूत सम्यक् कृति संस्कृति। कर्म करनेमें मनुष्य स्वतंत्र है। वह सम्यक् असम्यक् दोनों प्रकारके कर्म करनेमें समर्थ है। पर मनुष्य है इसलिए मननशील है, विवेकशील है, इसलिए सम्यक् कृति ही संस्कृति है। जिन कर्मोंके द्वारा मनुष्य अपने जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उन्नति करता हुआ सुख शांति प्राप्त करे, वे कर्म ही उसके लिए सम्यक् कृति कहे ज

सकते हैं। या यों कहें कि मनुष्यकी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति जिससे होती हो वह संस्कृति है। मनुष्यमात्रके वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रोंमें भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युदयके अनुकूल कर्म ही संस्कृति हैं। धर्मकी परिभाषा करते हुए महर्षि कणादने 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः' कहा है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी सिद्धि वैदिकधर्मका अभीष्ट रूप है, मात्र एकका नहीं। वैदिकसंस्कृति यह उपदेश कभी नहीं देती कि कोई मनुष्य वर्षा और धूपसे बचनेके लिए, विश्राम करनेके लिए मकान न बनाये, शरीरकी नग्नताको ढकनेके लिए उसे शीतसे बचानेके लिए वस्त्रोंकी व्यवस्था न करे! हम धन-ऐश्वर्यके स्वामी बनें- यह वैदिक ऋषिकी प्रार्थना है। भौतिक सम्पत्ति, उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थ, उत्तमोत्तम आवास गृह, उत्तमोत्तम वस्त्र, मनोविनोदके उत्तमोत्तम साधन— ये सब वैदिकसंस्कृतिके अंग हैं। यदि वैदिकसंस्कृति केवल आध्यात्मिक ही होती तो उसमें गृहस्थ आश्रमकी गणना मानवजीवनके स्वर्णकालके रूपमें न की जाती। 'यशः श्रीः श्रयतां मयि' मुझे यश और ऐश्वर्य प्राप्त हो; 'अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्' हम दुग्ध आदि पदार्थोंसे सम्पन्न हों और राष्ट्रको सम्पन्न बनाएं— क्या ये मात्र आध्यात्मिक संस्कृतिके उपादान हो सकते हैं?

अपना देश अतीतमें धन-धान्यसे भरपूर रहा है। विदेशियोंके मनमें इसने अपना स्थान सोनेकी चिड़ियाके रूपमें बनाया। यह सम्पदा क्या इसे अनायास मिल गई? यह पूर्वजोंके, वैदिक संस्कृतिके उद्घोषकोंके, उनके जिन्होंने हमारी संस्कृतिकी आधारशिला रखी, अनवरत परिश्रमका फल है, सहस्रों वर्षोंकी कठोर साधनाका परिणाम है। इस देशकी प्राकृतिक सम्पदाका और मानव शक्तिका पूरा-पूरा लाभ उठाकर उन्होंने इसे धनधान्यसे सम्पन्न बनाया था। उन्होंने जीवनके चार आदर्श निश्चित किए थे- धर्म, अर्थ,काम और मोक्ष। मोक्षको जहाँ परम पुरुषार्थ माना वहाँ अर्थ और कामको भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। धर्मानुसार धनका उपार्जन, उससे अपना एवं अपने कुटुम्बका पालन, मित्र, ज्ञाति, संबंधियोंका संवर्द्धन और योग्य पात्रोंको दान- इन्हें मानवजीवनका आवश्यक कृत्य माना है। सारे वाङ्मयको उठाकर देखिए। आर्थिक जीवनको संपन्न बनानेवाले अनेक विधान आपको मिलेंगे। कृषि इस देशकी अर्थ- व्यवस्थाका मूल है। अतः कहा है—

राज्ञां सत्त्वे असत्त्वे वा विशेषो नोपलक्ष्यते।
कृषीवलविनाशे तु जायते जगतो विपत्॥

कृषीवल संस्कृति भारतीय जीवनकी मौलिक सच्चाई है। किसान भारतका सच्चा धरतीपुत्र है। आर्थिक संपन्नताके लिए ही कृषिके साथ गोपालनको जोड़ दिया, जिससे एक ओर उत्तम खादकी समस्या हल हुई और दूसरी ओर दूध, घी आदिके रूपमें भोजनकी समस्याका भी समाधान प्रस्तुत किया। उधर गोपालन कोई भार नहीं बना। कृषिके आश्रयसे उसका पालनपोषण हो गया। किन्हीं मशीनोंसे यह संभव नहीं था। अवकाशके क्षणोंके लिए ताश और शतरंज नहीं, प्रत्युत् घरेलू उद्योग धंधे जो कृषिकर्मके सहकारी कर्म बन सकते हैं, आयके अतिरिक्त साधन बनकर किसानकी आर्थिक सम्पन्नताके उपकरण बन सकते हैं। मनोविनोदके लिए धर्मचर्चा, साहित्यचर्चा। 'काव्यशास्त्रविनोदेन'।

पर कोई तर्क दे सकता है कि कृषिका संबंध जीवनकी मौलिक आवश्यकताओंसे है। आर्थिक सम्पन्नतासे उसे जोड़ना उचित नहीं। अब मैं प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवनसे कुछेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करूंगा, जिनका संबंध मौलिक आवश्यकताओंसे नहीं, आर्थिक वैभवसे ही है।

संस्कृतिके उषःकालमें ही राजमार्गोंके निर्माण और रक्षाका महत्त्व लोगोंके ध्यानमें आ गया था—

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्र पापास्तं पन्थानं
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड।
अथर्व. १२।१।४७

हे पृथ्वी! जनके यातायातके लिए, रथों एवं अन्य वाहनोंके लिए जो मार्ग तुम्हारे ऊपर बने हैं, जिन पर चलनेका सबको अधिकार है, उन मार्गोंमें कोई लुटेरा या बटमार न रहने पाए, वे हम सबके लिए कल्याणकर हों। प्राचीन साहित्यमें कई प्रकारके मार्गोंका उल्लेख हुआ है, जैसे स्थलपथ, जंगलपथ, कान्तारपथ, वारिपथ, मेंढपथ, अजपथ, शंकुपथ, छत्रपथ, वेत्रपथ, वेणुपथ आदि। अर्थशास्त्रमें आचार्य कौटिल्यने मार्गोंके दो स्थूल भाग किए हैं— उत्तरापथ और दक्षिणापथ; और फिर उनके विभाग बताए

हैं– राजमार्ग (मुख्यमार्ग), स्थानीयपथ (विभिन्न राजधानियोंको मिलाने वाले), द्रोणमुखपथ (जलथल दोनोंके व्यापार केन्द्र), राष्ट्रपथ (गांवको जानेवाले मार्ग), विवीतपथ (गोचर भूमियोंके मार्ग), व्यूहपथ (सैनिक मार्ग), रथपथ, मनुष्यपथ, चक्रपथ आदि ।

हिमालय पर्वत और दक्षिणके समुद्र भारतवर्षको अन्य देशोंसे अलग करनेवाले हैं, हमारी प्राकृतिक सीमाएं हैं; पर आर्थिक संपन्नताके लिए हमारे पूर्वजोंने इन्हींके रास्तोंसे दूर-दूरके देशोंसे व्यापार संबंध स्थापित किए । गंधारको मध्यदेशसे मिलानेवाला राजमार्ग उपनिषदोंसे पहले ही बन चुका था । उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहते हैं कि यदि किसी व्यक्तिको आँख पर पट्टी बाँधकर गंधारसे यहां (पंचाल) ले आया जाए और तब पट्टी खोलकर उससे कहा जाए कि गंधार इस दिशामें है तुम गंधार जाओ तो वह गाँव–गाँव होता हुआ अवश्य गंधार पहुंच जाएगा । (छांदोग्य० ६, १४, १, २) । पाणिनिने भी इस मार्गका उल्लेख किया है और इसे उत्तरपथ कहा है । (५, १, ७७) उत्तरपथसे आनेवाला व्यापारिक सामान– कम्बल, घोडे आदि औत्तिरपथिक कहलाते थे । भारतवर्षमें मार्गोंकी ऐसी सुव्यवस्था देखकर मेगास्थनीजने एकसाथ हर्ष और विस्मय प्रकट किया है ।

भारतवर्षके उच्च कोटिके वस्त्रोंका उल्लेख देशविदेशके साहित्यमें मिलता है । काशी और शिवि जनपदके मूल्यवान् वस्त्रोंका नाम चारों ओर फैल गया था । पांडुकम्बलका उल्लेख जातकोंमें भी हुआ है और पाणिनिने भी किया है । पाण्ड्य देशके मोती और दक्षिणके मणिजटित चीर उत्तर भारतमें प्रसिद्ध थे । महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें विभिन्न राजाओंने जो भेंटें दी थीं उनमें लगभग सभी राजा अन्य तमाम सामग्रीके अलावा तरह–तरहके वस्त्र भी लाए । जैसे, पंजाबके राजा शाल, कम्बोजके राजा भेडकी ऊनके वस्त्र जिनपर सोनेका काम था, कम्बल और पोस्तीनके वस्त्र लाए थे । अन्य राजाओंकी भेंटमें ऊनके वस्त्र (और्ण), रंकु बकरोंके रोयोंसे बने पश्मीने (पामीरके रंकु नामक बकरेका पशम बहुत मुलायम होता है) रेशमी वस्त्र (कीटज), पट्टाम्बर (पट्टज), और तरह–तरहके नमदे (कुट्टीकृत वस्त्र) कमलके रंगवाले मुलायम ऊनी वस्त्र थे । ताम्रलिपिके राजा दुकूल, रेशमी वस्त्र, पटोरे (एक प्रकारका रेशमका वस्त्र, पत्रोर्ण) और चादरें लाए थे ।

प्राचीन कालकी व्यापार व्यवस्था भी आर्थिक क्षेत्रमें हमारे पूर्वजोंकी सुरुचिका परिणाम है । पुरानी कथाओंमें सार्थवाहोंके पाटलिपुत्रसे तक्षशिला, चम्पासे ताम्रलिपि, श्रावस्तीसे भरुकच्छ, मथुरासे दक्षिण मदुरै तक माल लाद कर जानेका वर्णन आता है । शूर्पारकमें ५०० बडे नैगम व्यापारी थे । निगम स्थानीय सराफेको कहते थे । जो व्यापारी इसके सदस्य होते थे, उन्हें नैगम कहते थे । उनकी साख होती थी । दूर-दूरके व्यापारिक केन्द्रोंमें उनकी कोठियाँ थीं और उनकी हुंडियाँ चलती थीं । इस प्रकारकी निगम संस्थाएँ पाटलिपुत्र, चम्पा, काशी, श्रावस्ती, अयोध्या, मथुरा, विदिशा, उज्जयिनी आदि बडे-बडे व्यापार केन्द्रोंमें बहुत ही समृद्ध अवस्थामें थीं । कई स्थानोंसे निगमोंकी मोहरें मिली हैं । रोम, अरब, पारसीक, बाल्हीक, सिंहल और हिन्देशियाके साथ भारतीय व्यापारके मूल्यवान् ऐतिहासिक प्रमाण अभीतक उपलब्ध हैं । पारसकूलके साथ भारतीय लोग शंख, चंदन, अगरु, सोना, चाँदी, मोती, रत्न, मूँगा आदिका व्यापार करते थे । व्यापारी लोग मालकी गांठोंपर अपनी मोहर लगाकर भेजते थे । इस तरहकी कई हजार मोहरें पुरातत्त्वकी खुदाईमें मिल चुकी हैं ।

ये सडकें, ये वस्त्र, यह व्यापार किस बातके प्रमाण हैं ? मेरा विश्वास है कि यह सिद्धांत और व्यवहारका समन्वय था । अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि थी । ' आध्यात्मिक संस्कृति ' के निर्माताओंने भौतिकताकी उपेक्षा नहीं की थी, उसे गर्हित नहीं माना था । जीवनयात्राका महत्त्वपूर्ण सोपान माना था । मोक्ष आत्माका धर्म है, अर्थ शरीरका । यदि निःश्रेयस आध्यात्मिक सिद्धिके लिए अनिवार्य है तो अभ्युदय शारीरिक, भौतिक, सांसारिक सिद्धिके लिए अपरिहार्य है । जिन लोगोंने वैदिकसंस्कृतिके साथ पहले आध्यात्मिक विशेषण जोडा और फिर उसकी मनमानी व्याख्या की । उन्होंने वैदिकसंस्कृतिका विकृत एवं भ्रांत रूप हमारे समक्ष रखा । उन्होंने भोले जनमानसको गुमराह करनेका, कर्त्तव्यसे विमुख करनेका जघन्य पाप करके उसे कर्महीन आलसी बनाकर भौतिक आवश्यकताओंके अभावसे ग्रस्त नारकीय जीवन बितानेके लिए विवश कर दिया । सामान्य जनता यही मानकर बैठ गई कि भौतिक सम्पदा का संग्रह वैदिकसंस्कृतिके प्रतिकूल है । उसे वेदके इस आदेशकी सुध न रही ' शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर ' (अथर्व. ३।२४।५) आज वैदिकसंस्कृतिके स्वरूप को स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है, उस पर छायी हुई भ्रांतियों की धुंधको दूर करना होगा । वैदिकधर्मका यह विशेषांक इस दिशामें एक स्तुत्य प्रयास है । इस प्रयासकी सफलता पाठकोंकी सजगता और विवेक पर निर्भर है । × × ×

श्री वेदव्रत शास्त्री. एम, ए.

वैदिक-संस्कृतिकी महत्ता

卐

परतन्त्रताके प्रगाढान्धकारमें हमारी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, साहित्य सब विलीन थे। उस समय यदि ये यत्र तत्र दृष्टि-गोचर भी होते थे तो पाश्चात्य सभ्यता संस्कृतिसे हत-प्रभ थे। उस समय यदि कोई भारतीय इन मौलिक-तत्त्वों पर लिखता था तो अग्रेजीके माध्यमसे पाश्चात्य सामग्रीके आधार पर ही। अतः उस समयकी सांस्कृतिक विवेचना भारतीयताके मापदण्डसे नहीं मापी जा सकती थी क्योंकि भारतीय विद्वान् स्वयं पाश्चात्य सस्कृतिसे प्रभावित थे। यहां तक कि संस्कृति शब्दकी व्याख्या Culture शब्दके माध्यमसे करते थे, क्योंकि प्राय विद्वान् संस्कृति शब्दका पर्याय अंग्रेजी भाषाका Culture शब्द उपस्थित करते थे। वास्तवमें यह शब्द लेटिन भाषासे अग्रेजी साहित्यमे आया है इसका मूल Colere से बना है जिसका अर्थ है, to cultivate land। आर्यसमाजके प्रसिद्ध विद्वान् स्व० श्री गङ्गाप्रसादजी उपाध्यायने Culture के माध्यमसे ही इसीके अनुरूप "कृष्टिः" शब्द ऋग्वेद १।४।६ मंत्रके द्वारा उपस्थित किया है। इन्होने Vedic Culture में कोई वेदमत्र नहीं उपस्थित किया जिसमें संस्कृति शब्द आया हो। परन्तु स्वतंत्रभारतके विद्वान् संस्कृति शब्दको वेद-मंत्रमें विद्यमान पाते है, यथा—

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स
प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः। (यजुर्वेद ७।१४।)

जब हमें इस मंत्रमें संस्कृति शब्द मिल जाता है तो हम बिना संकोच संस्कृतिको वैदिक विशेषण दे सकते हैं। मानवके साथ संस्कृतिका प्राचीनतम संबन्ध है। एकोऽहं बहु-स्याम्" जबसे मानवमें या प्राणि-मात्रमें इस भावनाका प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ तभीसे संस्कृति भी प्रादुर्भूत हुई। मानव अल्पज्ञ प्राणी है अत बहु स्याम् की प्रक्रियामें गुण और दोष दोनों संभवित हैं। गुणमें शिवत्व और दोषमें अशिवत्व निहित रहता है। "एकोऽहं बहु स्याम्" की भावनाके पूर्व मानवमें "जीवेम शरदः शतम्" की भी नैसर्गिक भावना होती है। अत मानव जीवेम्की भावनाकी पूर्ति सर्वप्रथम करता है क्योंकि 'अन्नं वै प्राणाः' कहा गया है। एक बीज भी किसानके माध्यमसे या स्वयं भूमिमें पड कर "एकोऽहं बहु स्याम्" की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है। यह मानव जीवन भी एक प्रकारकी कृषिकी (कृष्टिः की) प्रक्रियाका उदाहरण है जो कि सद्गुणोंके आधान तथा संरक्षणमे, दुर्गुणोंके निष्कासन और बहिष्कारमें सतत सक्रिय रहता है। मानव शरीरही क्षेत्र है. आत्मा (जीव) किसान है। भाग्य और पुरुषार्थ दो बैल हैं ज्ञान या विवेकके हलसे वह आत्मा अपनी खेती (जीवन-यज्ञ) प्रारम्भ करता है। परन्तु खेतमें पूर्वके कुछ अनावश्यक बीज भी अदृष्ट-रूपमें पडे रहते हैं। एक बुद्धिमान् किसान प्रथम अपने खेतको जोतकर खाद डालकर परिष्कृत करता है तब उसमें अपने बीजोंको होता है, बीज अंकुरित होते हैं और उन बीजोंके साथ साथ अनावश्यक बीज भी उगने लगते हैं। किसान अपने खेतोंको पशुओंसे सुरक्षित रखनेके लिये उन्हें रूंधता या लोहेके कंटीले तार चारों तरफ बांधता है, समय समय पर खेतको सींचता है। सभी पौदे विकसित तथा परिवर्धित होते हैं। किसान खुर्पीके द्वारा खेतोंके

+

अनावश्यक पौधोंको काट कर फेंक देता है और आवश्यक पौधोंको जल और खादके द्वारा परिपुष्ट करता है "रामचरित मानस" के रचयिता तुलसीदास उक्त भावनाकी परिपुष्टि निम्न पद्यसे करते हैं—

कृषी निरावहिं चतुर किसाना ।
जिमि बुध त्यजहिं मोह मद माना ॥

यहाँ कृषिका रूपक भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकारसे अपेक्षित है यह दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त संस्कृतिके कार्य कलापकी ओर इंगित करता है। अर्थात् संस्कृति मानवकी पूर्णताके लिये आवश्यक गुणोंका आदान और मनुष्यके विकासके बाधक दुर्गुणोंको निष्कासन करती है। अर्थात् संस्कृति मानव और समाज राष्ट्रमें शिवत्वका आधान और अशिवत्वका विकास करती है।

अब हम शीर्षकका शब्दार्थ और उसकी व्याख्या करेंगे। वेदोंसे सम्बन्धित संस्कृतिको वैदिकसंस्कृति कहते हैं। वेदोंके विषयमें जो धारणा विश्वविद्यालयोंके विद्वानोंकी है हमारी धारणा इसके विपरीत ऋषि दयानन्दके विचारोंसे प्रभावित है। अतः वैदिक शब्द हमारे लिये बहुत पुनीत है जिसे विश्वविद्यालयके विद्वान् मैक्समूलरकी दृष्टिसे पहचानते हैं। हो सकता है उनकी दृष्टिमें हमारी यह निष्ठा तथा आस्था हास्यप्रद हो परन्तु जब ये विद्वान् अपनेको अपनी दृष्टिसे देखेंगे तो हमारी ही स्थितिमें ये भी आजायेंगे। भारतीय अर्थात् वैदिकसंस्कृतिको समझनेके लिये "संस्कृतिके चार अध्याय" और 'वैदिक सम्पत्ति' दोनोंको पढना आवश्यक है। सम् + कृ धातुसे संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है सम्का अर्थ सम्यक् (well) और कृ का अर्थ करना। जिसके द्वारा लोक तथा परलोककी सम्यक् सिद्धि की जाती है, और आत्मा और शरीरका सम्यक् विकास (Growth) हो, उसे संस्कृति कहते है आर्यत्व अर्थात शिवत्वका सम्वर्धन और रक्षण तथा अनार्यत्व अर्थात अशिवत्वका विनाश और ह्रास सस्कृतिका कार्य है। सस्कृतिके द्वारा मानव, समाज तथा राष्ट्र विकसित, सम्वर्धित एव सस्कृत (refined) होते हैं। मानवके विकासके साथ साथ सस्कृति भी विकसित होती है अतः वैदिकसस्कृति प्रथमा, विश्ववारा विश्वको अपनेमें समाहित करनेवाली है, सार्वभौमिक और सार्वकालीन है यह मानवमात्रकी संस्कृति है। मानव-मात्रके द्वारा स्वीकार करने योग्य और ज्ञानदात्री सखाके समान है। अभ्युदय और निःश्रेयस्‌का साधिका है। अभ्युदय और निःश्रेयसमें समन्वय स्थापित करती है। यही वैदिकसंस्कृतिकी अपनी विशिष्टता है। अन्य संस्कृतियाँ संस्कृति नहीं हैं उनमें वैदिक-संस्कृतिकी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे छायामात्र है।

वैदिकसंस्कृतिकी दूसरी विशिष्टता यह है कि एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकताको स्थापित करना। इतना विशाल ससार जो कि अनेकताओं और विभिन्नताओंका भण्डार है एक प्रकृतिका परम विकास है। सत्, रज, तम इन सबका विकास है। चींटीसे लेकर हाथी तकके प्राणियोंमें एकही आत्माका वास है जिस प्रकार एक सूत्रमें तमाम मोतियाँ पिरोई होती हैं उसीप्रकार सूर्य, चन्द्र आदि तमाम लोक लोकान्तर परमात्मतत्वमें पिरोये हुये हैं। यह विशाल काय ससार उसी परमात्मतत्वका विराट् स्वरूप है वह उत्पादकत्व, पोषकत्व और संहारत्व इन शक्तियोंवाला है। यह इतना विशाल प्रपञ्च ईश्वर, जीव, प्रकृतिका समुदाय-मात्र है इन तीनोंमें जीव और प्रकृति ईशतत्वके आधीन है। यही ईश प्रधानतम है। यही सभीमें ओतप्रोत है। वेद कहता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् विजानतः ॥
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
—यजु ४०।६।७

वैदिकसंस्कृति अपनी उदारता और समताकी बाहोंमें सारे संसारको बाँध लेती है और सारे ससारको एक परिवारमें बदल देती है, सबमें एक आत्मतत्त्व देखनेवाली ज्ञानी किसी प्राणीसे घृणा या द्वेष नहीं करता, राग और मोहके बन्धनसे सर्वथा सर्वदा मुक्त रहता है।

" यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् " —यजुर्वेद ३२।८
" यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् " —अथर्ववेद

अर्थात् अनेकमें एक देखनेवाले आत्मज्ञानीको संसार एकरूप दिखाई देता है। वैदिकसंस्कृति इस सम-दृष्टिसे अपने विशाल हृदयमें विश्वको धारण करता है। समदर्शी अपने परायेकी संकुचित सीमाको तोडकर उदारताके विशाल-क्षेत्रमें प्रवेश करता है जहाँ लघुचित्त, उदार-चित्तमें बदल जाता है। वैदिक संस्कृति ससारकी संस्कृति है। जैसे प्राणि-मात्रका ईश्वर एक है, सूर्य सबका एक है उसीप्रकार मानव-मात्रकी सस्कृति एक है यह है वैदिक सस्कृति।

आज संसारमें अनेक संस्कृतियोंके नाम सुनाई पडते हैं, प्राचीन संस्कृतियोंमें यूनान, मिश्र, रोम आदि संस्कृतियोंके नाम लिए जाते हैं जो कि आज पुस्तकोंमें ही अवशेष हैं। हमारे विचारसे संस्कृतिको देश-कालकी सीमामें नहीं बांधा जा सकता है। जबसे मानव संसारमें है तबसे संस्कृति थी और जबतक मानवता संसारमें स्थिर रहेगी तबतक संस्कृति विद्यमान रहेगी। यह विशेषता वैदिक संस्कृतिको ही प्राप्त है। संसारमें कभी भी वेदोंका अत्यन्ताभाव नहीं हुआ " पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति " अतः वैदिकसंस्कृति शाश्वत और अमर है।

वैदिकसंस्कृति सत्य, न्याय, सहानुभूति, आस्तिकता आदि गुणों पर आश्रित है जब कि अन्य संस्कृतियां जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीतिपर (Might is right) की नीति पर तथा मत्स्यन्याय पर आधारित हैं जो संस्कृति न होकर संस्कृतिका प्रतिबिम्बमात्र ही हैं। कुछ संस्कृतियां तलवारकी छायामें विकसित हुईं। कुछ संस्कृतियां " फूट डालो और सबको दास बनाओ " की नीति पर ही अवलम्बित थी। अतः वैदिक संस्कृति अपनी उक्त विशेषताओंके कारण ही संसारमें किसी न किसी रूपमें विद्यमान है।

वैदिकसंस्कृति ' आत्मानं विजानीहि " आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः, निदिध्यासितव्यः इति " का पावन सदेश संसारको देती आई है और यह पावन सन्देश देती रहेगी। इस सन्देशके साथ साथ शारीरिक, मानसिक उत्थानका भी सन्देश देती है। " सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे " पुरुषार्थचतुष्टय धर्म, अर्थ काम और मोक्ष, सहास्तित्वकी भावना भी हमें प्रदान करती है। यथा—

सह नोऽस्तु सहनोऽवतु सह नः इदं वीर्यवदस्तु।
ब्रह्मा इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे॥

वैदिक-संस्कृतिका स्वरूप

(१) आर्यत्व (शिवत्व) की रक्षा और अनार्यत्वका (अशिवत्वका) विनाश (२) यज्ञ और व्रत (३) आश्रम-व्यवस्था अर्थात् व्यक्ति विकासकी व्यवस्था (४) वर्ण-व्यवस्था अर्थात् समाजके विकासकी व्यवस्था। ५ आस्तिकता (६) वेदोंका समादर और उनकी मान्यता (७) कर्म व्यवस्था, (८) पुनर्जन्मकी मान्यता, यह अष्टभुजा दुर्गा वैदिकसंस्कृति संसारसे बर्बरता अन्याय, अत्याचार एवं दासताको मिटानेमें समर्थ रही है इसने देवासुर संग्राम, महाभारतका प्रलयङ्कर दृश्य, स्वतन्त्रताका संग्राम देखा है। इसने अपनी गोदमें राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, गुरुनानक, कबीर, रामतीर्थ स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द आदिको जन्म दिया और इन्हें आत्मज्ञानका पीयूष पिलाकर संसारका पथप्रदर्शन किया।

संसार परमात्माका एक बाग है। आत्मायें पुष्पवृक्ष हैं। वैदिकसंस्कृति संसार-वाटिकाका माली है। इसमें वैदिक-संस्कृति द्वारा सभी पुष्पोंका समान विकास होना आवश्यक है। वैदिकसंस्कृति इन पुष्पोंके विकास एवं सम्वर्धनके साधन अर्थात् उपकरण संजोती है और पुष्पोंके विकास एवं परिवर्धनके बाधक दुर्गुणोंका निष्कासन करती है।

यज्ञ और व्रत

यज्ञ शब्दका यौगिक अर्थ ही संस्कृतिके प्रसगमें अपेक्षित है। सामान्य लोग यज्ञ शब्दका अर्थ हवन अर्थात् मन्त्रों द्वारा अग्निमें हवि डालना ही समझते हैं। परन्तु यज्ञमें सभी शुभ कर्मोंका समावेश है। यज्ञसे जहां वायु-मण्डलकी शुद्धि होती है, वहां ब्रह्म-यज्ञसे आत्म-शुद्धि भी होती है। यज्ञकी सम्पन्नताके लिये जिन नियमोंका अनुष्ठान या पालन करना होता है उन्हें व्रत कहते हैं। व्रतसे मनुष्य यज्ञमें दीक्षित होता है। दीक्षित व्यक्ति ही यज्ञमे दक्षता प्राप्त करता है। यज्ञ हमारे अभ्युदय और निःश्रेयसका साधक है। यज्ञमे देवपूजा, सगतिकरण और दान आदि सभी समाहित है " यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म "।

यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि
धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।

इस मन्त्रमें उपासना-यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञका वर्णन है प्राचीन देवतागणने उपासना-यज्ञके द्वारा ईश्वरकी पूजा की है। यज्ञका करना प्रथमसे ही प्रचलित था, देवताओंने यज्ञके द्वारा स्वर्ग अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति की थी। अतः वैदिक संस्कृतिमें यज्ञका महत्वपूर्ण स्थान है।

आश्रम-व्यवस्था

वैदिकसंस्कृतिमें आश्रम-व्यवस्था मानव-जीवनकी पूर्णताकी सिद्धिके लिए सुन्दरतम मनोज्ञ कमनीय सीढी है। इसमें मानव-जीवनकालको चार भागोंमें विभाजित किया है, प्रत्येक विभागकी अवधि २५ वर्षोंकी है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। ब्रह्मचर्य्यमें बल, वीर्य, धर्म, ज्ञानका सचय और रक्षा की जाती है। गृहस्थमें पितृऋणसे मुक्त होनेके लिए सन्तानोत्पत्ति की जाती है। वानप्रस्थमें तपस्या, ज्ञान और व्रतकी पुनः प्राप्ति की जाती है। सन्यासमें परोपकारार्थ अपना सर्वस्व समर्पण करना होता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १ ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ २ ॥
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्
संगृभ्यमुहुराचरिक्रत्।
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजत् बिभर्ति तस्मिन्देव
अधिविश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं
ब्रह्म मेधाम् ॥

इन महत्त्वपूर्ण वेदमन्त्रों द्वारा ब्रह्मचर्यकी अद्भुत महत्ता प्रदर्शित की गई है। ब्रह्मचर्यके द्वारा तपस्यासे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए वेदोंका सम्यक् अध्ययन करके उत्तर समुद्र अर्थात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य पूर्व समुद्र है और गृहस्थाश्रम उत्तर समुद्र है। ब्रह्मचर्याश्रमको समुद्र इसलिए कहा गया है कि ज्ञान, वृद्धि, वीर्यकी शक्तियाँ ब्रह्मचारीमें समाहित होती हैं और गृहस्थाश्रमको उत्तर समुद्र इसलिए कहा गया है कि ब्रह्मचारीमें समाहित ये शक्तियां गृहस्थाश्रममें व्यय होती हैं। ब्रह्मचारीमें ही ब्रह्मज्ञान तथा ईश्वर सुशोभित होता है ब्रह्मचारीमें ही में प्राण, अपान, व्यान सम्यक् पुष्ट होते हैं। ब्रह्मचारीका मन तथा हृदय महानतम होता है। उक्त मंत्रोंमें आया है कि आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते यह वाक्यांश आजके आचार्योंको विशेष विचारणीय है। दूसरा वाक्यांश ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् है। इसके अनुसार ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन केवल लडकोंके लिए ही नहीं विहित है अपितु लडकियोंके लिए भी है।

गृहस्थाश्रम

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

मनुका यह श्लोक गृहस्थाश्रमकी महत्तापर पूर्ण प्रकाश डालता है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, सन्यासी सब गृहस्थाश्रमके आश्रित रहते हैं। गृहस्थाश्रम एकोऽहं बहु स्याम् की मानवकी इच्छाकी पूर्तिका उत्कृष्ट केन्द्र एवं साधन है। गृहस्थाश्रममें ही रहकर समाज, राष्ट्र, कीर्ति और पशुप्राणीकी प्राप्ति की जाती है।

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विश्वश्च त्विषिश्च, यशश्च वर्चश्च, द्रविणं च आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च। पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च आपूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ अथर्ववेद का० १२।सू० ५। मंत्र ८, १० ॥

पतिके गृहमें नवविवाहिता कन्या सम्राज्ञी होती है।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा।

गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुतस्वसाम्।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

गृहस्थाश्रम ही कुल-परम्पराके धर्मको प्रगतिशील बनाता है। अन्यथा वशानुक्रमसे चलती परम्परायें अतीतके गर्तमें विलीन हो जाती हैं, इस विषयमें वेद कहता है ' पुत्र पिताके व्रतका स्वीकार करनेवाला हो पुत्र माताके अनुरूप हो, अर्थात् माताके मनको सुख देनेवाला हो, पत्नी मधुर भाषण करे, जिसके द्वारा पतिके मनको शान्ति प्राप्त हो। अगर पति बाहरसे कार्य करके घरको वापस आता है तो पत्नी मधुर शब्दोंमें उससे बात करे। भाई भाईसे द्वेष न करे। अर्थात् रामलक्ष्मण–भरत–शत्रुघ्नका आदर्श अपनावे, न कि कौरव-पाण्डवोंका, बहन बहनसे द्वेष न करे, सब आपसमें एक दूसरेके प्रति हितकी बातें करें। और परिवारके समान सत्यव्रत वाले हों।

वानप्रस्थाश्रम

जब लडकेके भी लडका हो जावे तो मनुष्य वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करे, पचाससे पचहत्तर वर्षकी आयु तक वानप्रस्थाश्रममें तप तथा स्वाध्याय करे, यही अध्यापनकाल है।

" ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्,
गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।"

अर्थात् वानप्रस्थाश्रममें रहता हुआ व्यक्ति संन्यासाश्रमकी योग्यता एवं क्षमता अर्जित करे।

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सं नमन्तु ॥ अथर्व।
तपःश्रद्धे ये ह्युपवसंत्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ मनु. ॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ मनु ॥

उक्त प्रमाणोंसे विदित होता है कि वानप्रस्थाश्रम तपस्या, स्वाध्याय और इन्द्रियनिग्रहके लिए है। संन्यासकी तैयारी यहीं करनी पडती है।

संन्यासाश्रम

संन्यासाश्रम जीवनकी अन्तिम सीढी है। पचहत्तर वर्षकी आयुके पश्चात् संन्यासाश्रममें प्रवेश करनेका विधान है।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥ ऋग्वेद।

हे देव! पूर्ण विद्वान् सन्यासी लोगों! तुम जैसे इस (समुद्रे) आकाशमें (आसूर्यं) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादिका प्रकाशक परमात्मा है, उसको (अजभर्तन) चारों ओरसे अपनी आत्मामें धारण करो और आनन्दित होवो! वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उनको सदा (अपिन्वत) विद्या और उपदेशसे युक्त किया करो। यही तुम्हारा परम धर्म है। सन्यासमें आत्मिक आनन्दको प्राप्त करना परमोद्देश्य होता है। संक्षेपमें-ब्रह्मचर्य-सकलन (+) और गृहस्थाश्रम = ऋण (-), वानप्रस्थ-शेषका गुण (×) संन्यास गुणा प्राप्त का वितरण या विभाजन (-) है। इस अन्तिम सीढीसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। वैदिक संस्कृति त्यागवाद पर आश्रित है। जीवनका तीन भाग अर्थात् ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास त्याग और तपस्या पर आधारित है। केवल $\frac{1}{4}$ भाग गृहस्थाश्रम संयमित भोगके लिये है।

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्थाका अर्थ है अपनी योग्यता, गुण, कर्म, स्वभावके अनुरूप सामाजिक कर्तव्य तथा उत्तरदायित्वको अङ्गीकार करना। समाज या राष्ट्ररूपी विशाल भवन शिक्षा, रक्षा, उत्पादन, श्रम इन स्तम्भों पर स्थिर है। वैदिकसंस्कृतिने राष्ट्रको एक विराट् पुरुषके रूपकसे समवगत कराया है। जो मानव शिक्षाके द्वारा राष्ट्रकी सेवा करते है उन्हे राष्ट्रका प्रमुख या मुख्य अङ्ग "ब्राह्मण" माना गया, जो मानव-समुदाय अपने बाहुबलसे राष्ट्रकी बाह्य आक्रमणसे तथा आन्तरिक राष्ट्रद्रोहियोंसे राष्ट्रकी रक्षा करता है उसे राष्ट्रका बाहु (क्षत्रिय) कहा गया है, जो मानवसमुदाय अपने उत्पादनके द्वारा राष्ट्रकी सेवा करता है उन्हें राष्ट्रका ऊरु (वैश्य), जो अपने शारीरिक श्रमके द्वारा राष्ट्रकी सेवा करते है उन्हें राष्ट्रका पाद, चरण (शूद्र)* कहते है। उक्त भाव निम्न वेदमंत्रसे स्पष्ट प्रकट है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

शिक्षा, रक्षा, उत्पादन, श्रम ये चार प्रमुख कार्य राष्ट्रके धारक होते हैं। शिक्षकोंको ब्राह्मण भले न कहें, रक्षकोंको क्षत्रिय न कहें परन्तु पुलिस, सेना, गुप्तचर तो होते ही हे, उत्पादकोंको वैश्य न कहकर व्यापारी, किसान, मिलमालिक भले ही कहें, इसी प्रकार जो मजदूरी करते हैं, नौकरी करते हैं उन्हें दास, शूद्र भले न कहें, परन्तु लेबरर तो होते ही है। आज भारतमें विकृत वर्णव्यवस्था है जिसे वास्तविक रूपमें उपस्थित करना विद्वानों और सरकारका कार्य है।

आस्तिकता

आस्तिकता वैदिकसस्कृतिकी आधारशिला है। आत्मा, परमात्मा, भाग्य, और पुनर्जन्म पर विश्वास करना आस्तिकता है, यद्यपि मनुने "नास्तिको वदनिन्दकः" कहा है। डॉ मुशीरामजी लिखते है "आस्तिकताके भावने वैदिक (आर्य) सस्कृतिको प्रकृतिकी प्राणशून्यतासे हटाकर

* शूद्र शब्दका अर्थ घृणित या नीच नहीं होता है जो मुख्यतया अज्ञानसे शोकमें पडा रहता है वह 'शूद्र' कहलाता हैं। वर्णव्यवस्था गुण, कर्म स्वभावसे ही मानी जानी चाहिए तभी समाजके लिए उपयोगी हैं। अन्यथा जन्मसे वर्णव्यवस्थाकी मान्यता राष्ट्रके लिए हानिप्रद है।

सप्राण बनाया है, उसे बल दिया है और उदात्त आदर्शोसे समन्वित किया है। हमारी आंखें यहीं नही रहकर (अभ्युदयपर ही सन्तोष न करके) उस आदर्शकी ओर लगी रहती हे जहाँ हमें अन्तमे पहुंचना है, जहां हमारी जीवन-यात्रा की सीमा है, जो हमारा वास्तविक घर है, वैदिक संस्कृति (आर्यसंस्कृति) इस धनसे अपनेको धनी समझती है। " आगे चलकर आपने पुनर्जन्म पर अनुपम प्रकाश डाला है जैसा कि आप लिखते हें ' इस जीवनसे पूर्व भी हमारा जीवन था और इसके बाद भी रहेगा। जीवन शृंखलामय है इसमें अनन्त कडियां है। ये कडियां कर्मवादसे सम्बन्धित हे। हम न जाने कबसे कर्म करते चले आरहे है, और न जाने कबतक चले जायेंगे। इस शृंखलाका अन्त तभी होगा, जब हम प्रकृतिके उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् सत्, रज, तम तीनोंसे परे हो जायेंगे। हमारा वर्तमान जीवनक्रम शृखलाकी एक कडी है। उस पर (जीवात्मा) और अमर (परमात्मा) के दर्शनसे ही ये कडियाँ कट सकती है। अत. कर्मवाद और पुर्नजन्मका सीधा सम्बध आस्तिकवादसे है। ये पक्तियां मानवात्माको प्रभावित करती हें। और एक सुन्दर रहस्यका उद्घाटन करती हैं।

संस्कृति और धर्म

संस्कृति यदि साध्य है तो धर्म साधन है। वैदिकसंस्कृति वैदिक धर्मका उद्गम है। साधनकी उत्कृष्टता पर उत्कृष्ट-साध्य आधारित है। संस्कृतिसे संस्कृत व्यक्ति ही परमानन्दको प्राप्त कर सकता है। अन्यथा यदि साधन उत्कृष्ट नहीं है तो उत्कृष्ट साध्यकी प्राप्ति असभव है। वैदिकसंस्कृतिसे वैदिकधर्म अनुप्राणित है। अत एव वैदिक-संस्कृति विश्ववारा, वरुण, अग्नि, मित्रादि विशेषताओंको धारण करती है। मनु धर्मके विषयमें कहते हे 'अर्थकामेष्व-सक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ' जो मनुष्य अर्थ और काममें लिप्त नहीं हे वही धर्मज्ञानके अधिकारी हे। धर्मके दश लक्षण, यम, नियम, आस्तिकता, श्रद्धा, भक्ति, वैदिक-संस्कृतिके स्थूल अङ्ग हें।

' सभ्यता और संस्कृति '

सम्प्रति सभ्यता शिष्टाचारके अर्थमें व्यवहृत होती है, कतिपय लोग सभ्यताको सामाजिकताका भी अर्थ ग्रहण करते हे परन्तु सभ्यता शब्दका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ सस्कृतिकी सान्निध्यता प्राप्त करना है। सभ्यताका प्रचलन आज-कल बाह्य शिष्टाचारमात्र है परन्तु आजकी सभ्यता बुद्धि और हृदयमें साम्यता नहीं रखती है ' मुखमें राम बगलमें छुरी ' की उक्तिप्रभाविता है। परन्तु यह सभ्यता पाश्चात्य सभ्यताकी अनुगामिनी है, शुद्ध भारतीय सभ्यता नहीं है, भारतीय सभ्यता हृदय और बुद्धिमें साम्यता रखती हे ' ' न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ' सभ्यतामें श्रद्धा और भक्तिका समावेश होना चाहिये। आजकी सभ्यता निम्न नीतिसे प्रभावित है

अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधरा कौलाः विचरन्ति महीतले ॥

मुखसे शिष्टतापूर्वक नमस्ते शब्द निकलता है परन्तु हृदयमें गाली देनेकी भावना रहती है, यह है आजकी सभ्यता।

वैदिकसंस्कृति और समाजवाद

वैदिकसंस्कृति ' त्यागवाद ' और ' यथायोग्यवाद ' पर आरूढ है, अतः यह अपने अन्तःकरणमें साम्यवाद, समाजवाद संजोये रखती है। परन्तु यह हिंसा और बर्बरताको प्रश्रय नहीं देती है। शुद्ध आत्मज्ञानकी ज्योतिमें समाजवाद सुशोभित होता है

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो यनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
सह नो ऽस्तु सहनोऽवतु सह नः इदं वीर्यवदस्तु-
ब्रह्मा इन्द्रस्तत् वेद यथा न विद्विषामहे ॥
सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
केवलाघो भवति केवलादी ॥

उक्त मंत्र और मत्रांश साम्यवादके सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं।

' शान्तिपूर्वक सहअस्तित्व '

वैदिकसंस्कृति मत्स्यन्यायकी विरोधिनी और मातृन्यायकी पोषिका है। जैसे माता अपनी सन्ततिको पालती है और उसके विकासके लिये अपना सर्वस्व त्यागनेके लिये समुद्यत रहती है अर्थात् अपना सुख व धन सब कुछ बच्चेके लिये सौंप देती है। निर्बलोंकी रक्षिका, सज्जनोंकी पोषिका एव रसिका, सबलोंकी नियन्तृ है। यहां Might is Right की नीति नहीं चलती यहाँ तो Right is might की नीति चलती है। पाश्चात्य संस्कृति अहिंसा, कूटनीतिसे केवल अभ्युदयकी साधिका है। वैदिकसंस्कृति त्यागवाद, यथायोग्यवादके आधार पर अभ्युदय और निःश्रेयसमें श्रेष्ठतम समन्वय स्थापित करती है। वैदिकसंस्कृति उद्घोष करती है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥
न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

जो वसुधा को कुटुम्ब मानता,
हर मानव को भ्रातसमान।
परस्त्री को मात मानता,
पर दौलत को धूल समान ॥
जो प्राणी में प्रभु देखता,
लिये हुए भक्ति अरमान।
स्वार्थ–द्वेष और मोह त्याग कर,
रखता सब से प्रेम महान् ॥
महापुरुष वह मानव होता,
करता भू को स्वर्ग समान।
'नम्र' आचरण होता उसका,
सचमुच मैं जगदीश समान ॥

श्री गजाननसिंह चौहान 'नम्र'



श्री रश्मिकान्त व्यास

ऋग्वेदमें धर्मका स्वरूप

卐

हमारे सबसे पुरातन ग्रंथ वेद ही हैं। यह देवताओं द्वारा रचा गया है ऐसा माना गया है। नरसे नारायणका पद उसे ही दिया गया है जिसने सम्पूर्ण मानवताके हितमें कोई बड़ा कार्य किया हो। राम, कृष्ण, गौतम, गांधी आदि इसके उदाहरण हैं। अतः वेदको रचयिता भी नरसे नारायण कहलाएंगे ही। क्योंकि वेद हमारी संस्कृतिकी अनन्त अक्षय निधि है।

वेदोंमें सूर्य, चंद्र, अग्नि, वरुण, वायु, आकाश धरतीको देवताके रूपमें देखा गया है। सूर्यने अपने प्रकाशसे सत्यके दर्शन कराए। सत्यको प्रसारित किया [1]। और आदि-मानवने उसीके प्रकाशके माध्यमसे सृष्टिके असीम सौंदर्यके दर्शन किए। उसके प्रकाशके बिना वह अन्धाही था। प्रकृतिमें उसने वृक्षलता आदिको उसीके प्रकाशसे वृद्धि पाते देखा तो उसने सूर्यको स्थावर और जंगमकी आत्मा निसंकोच होकर कहा [2]। उसकी हजारों किरणोंसे सारा विश्व आलोकित होता था। अतः उसने उसे भी संचालित करने वाली शक्ति ब्रह्मको हजार पाद, हजार शीर्ष, हजार आंखों वालेके रूपमें जाना। [3]

वह पृथ्वीकी गोदमें पैदा हुआ, बड़ा हुआ, अतः उसने पृथ्वीको माता स्वीकार किया। [4] सूर्यका निर्माता राजा वरुणको माना गया। क्योंकि सर्वप्रथम सृष्टिमें जल ही जल था अतः राजा वरुणने आकाशमें प्रकाशके लिए स्वर्णके झूलेकी भांति इस सूर्यका निर्माण किया। [5]

अतः आत्मारूप सूर्यके नित्य [6] दर्शन और [7] नमस्कारका विधान निर्मित हुआ। क्योंकि नमस्कारसे ही पृथ्वी और स्वर्ग अपने स्थान पर स्थित है। यही बात आगे 'नमस्कारः प्रियभानुः रूपमें अंगीकार की गई।

---

१ सत्यं तातान सूर्यः। ऋग्वेद १. १०५. १२

२ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। १. ११५. १

३ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। १०।९०।१

४ माता पृथिवी महीयम् १. १६४. ३३, माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः (अथर्व. १२.१.१२)

५ गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्ख हिरण्ययं शुभे कम्। ७।८७।५

६ आत, एतु मनः पुतः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे। १०।५७।४

७ नम इदुग्रं नम आविवासे। नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम्। ६।५१।८

सूर्य चंद्रको देवताओंके गुप्तचरके रूपमें भी देखा गया। ये सम्पूर्ण जगत्‌को अहर्निश बिना पलक झपकार, बिना रुके सदा ही देखते रहते हैं। साथ ही सदा एकसी गतिमें सुखपूर्वक आगे ही बढते रहते हैं [८]। अतः प्रार्थनाके रूपमें कहा गया कि हम सूर्यचंद्रकी भाँति सदा सुखसे मार्ग पर चलें। [९]

इंद्रकी सत्तासे भी वेदयुगीन मानव परिचित था। ऋग्वेद कहता है कि जिस तरह एकके पीछे दूसरे पैरको बढाया जाता है। वैसेही इंद्र स्वशक्तिसे पीछे रहने वालेको आगे बढा देते हैं। [१०] तथा इंद्रने ही (ज्ञानका प्रकाश फैलाकर) घने क्लेशकर अंधकारको दूर किया [११]।

किन्तु ये एकही सत् (सत्य=ब्रह्म) के विद्वानोंके द्वारा दिए गए विभिन्न नाम हैं। अग्नि, यम, मातरिश्वाकी तरह [१२]। इसी सत्यसे भूमि प्रतिष्ठित है [१३]। परमेश्वर सम्पूर्ण चराचर जगतके कण कणमें व्याप्त है। परमेश्वर वह सब है – जो उत्पन्न हुआ है और जो होनेवाला है [१४]। अर्थात् हर आत्मा परमात्मा ही है।

मनुष्यका जन्म ऐसे कार्योंको करनेके लिए हुआ है जो अभीतक किए नहीं गए हैं [१५]।

उसे मोक्ष दान देवपूजन यज्ञ वेदपाठके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। दक्षिणा देने वाले मोक्ष (अमृतपद) को प्राप्त कर लेते हैं। [१६] देते रहनेसे धन क्षीण नहीं होता, किन्तु दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति दान नहीं करता, उसे क्षमा करने वाला नहीं मिलता। जो देवपूजन व यज्ञ नहीं करता उससे स्त्रीको श्रेयस्कर कहा गया है [१७]। वह व्यक्ति स्त्रीसे भी हीन है, तुच्छ है,। देवता भी परिश्रमीको छोडकर अन्य किसीकी सहायता नहीं करते [१८]।

जो व्यक्ति वेदको त्याग देता है उसकी वाणी व्यर्थ जाती है वह पुण्यपथको नहीं जानता। उसके कर्म निष्फल होते हैं [१९]। × × ×

---

८ न तिष्ठति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। १०।१०।८

९ स्वस्ति पथामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। ५।५१।१५

१० पादाविव प्रहरन्नन्यमन्यं कृणोति पूर्वमपरं शचीभिः। ६।४७।१५

११ अंधा तमांसि दुहिता विचक्षे नभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ। ४।१६।४

१२ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। १।१६४।४६

१३ सत्येनोत्तभिता भूमिः। १०।८५।१

१४ पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भव्यम्। १०।९०।२

१५ बहूनि मे अकृता कर्त्वानि। ४।१८।२

१६ दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। १।१२५।६

१७ उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः। ५।६१।६

१८ न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ४।३३।११

१९ यस्तित्याज सचिविदं सखायं ..... नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थां। १०।७१।६



श्री शोभनाथ पाठक एम. ए., साहित्यरत्न

मानवताको उबारनेमें सक्षम

वैदिक संस्कृति

☆

विश्ववंद्य वैदिकसंस्कृतिकी वरीयताका जितना ही बखान किया जाय उतना ही थोड़ा है। इसकी गरिमामयी गाथा तभी तो इतिहासके सुनहले पृष्ठों पर संजोई गई है जिससे संसारको समन्वयात्मक संबल प्रदान कर संवारा जा सकता है। भारतकी इस अमूल्य थातीका भला विश्वका कौन ऐसा देश है जो ऋणी नहीं है। इसकी महत्ताके मानमें तभी तो पाश्चात्य मनीषी विण्टरनिट्ज़की श्रद्धा झलक पडी है। यथा

If we wish to learn the beginning of our own culture if we wish to understand the oldest Indo-European Culture, we must go to India, where the oldest literature of an Indo-European people is preserved.

संस्कृति शब्दका निर्माण सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातुको क्तिन् प्रत्यय लगाकर किया गया है। इस प्रकार संस्कार, संस्कृत एवं संस्कृति तीनों शब्दोंका मूल एक ही है तथा अर्थ है संवारना या शुद्ध करना। इसप्रकार वैदिकसंस्कृति से ही आजसे आकुल युगको संवारना संभव है जिसमें सबको समेटनेकी क्षमता है। देखिये, विश्वकल्याणकी कामनाका 'वैदिकसंस्कृति' की यह अनुपम थाती :—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

विश्वके सभी प्राणी सुखी निरोग और मंगलदर्शी हों, कोई दुःखी न रहे। इसी प्रकार "पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः" अर्थात् मानव मानवकी परस्पर रक्षा और सहायता करना मनुष्यका परम पावन कर्तव्य है। वास्तवमें जो साहित्य इतनी गरिमासे मंडित है वह विश्वके लिये अंतस्में संजोने योग्य है। पर इसकी परख वही कर सकता है जिसकी प्रखर प्रज्ञा वास्तवमें जनकल्याणकी ओर उन्मुख हो। गांधीजीको उक्तमंत्र बडा ही प्रिय था। यही नहीं वरन् वे प्रायः वैदिकमंत्रोंकी कमनीय कल्पनासे ही राम-राज्यका निर्माण चाहते थे। निम्नांकित मंत्र भी उनके भजनोंमेंसे एक था—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् जो कुछ भी इस संसारमें ईश्वर द्वारा प्रदत्त पदार्थ है, उसका एक ही नहीं वरन् सभी लोग समान रूपसे उपभोग करें। कोई किसीके धनका अपहरण न करे। कहनेका तात्पर्य यह कि सर्वाङ्गीण अभ्युदय ही वैदिकसंस्कृतिका लक्ष्य है। इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय, धर्म, अर्थ, काम, मोक्षको समान भावसे महत्त्व प्राप्त है।

संस्कृति आत्माके अभ्युत्थानकी प्रदर्शिका है अथवा यूँ कहा जा सकता है कि संस्कृति मानवजीवनके उन सब तत्त्वोंके समाहारका नाम है जो धर्म और दर्शनसे प्रारम्भ

होकर कला–कौशल, समाज तथा व्यवहारमें विलीन हो जाते हैं। इन सबसे परे वैदिकसंस्कृतिकी विशिष्टता कुछ और ही है इसमें पलकर मानवजीवन उल्लासमय, आशामय तथा सतत प्रगतिकी ओर उन्मुख था। निराशावाद तो इससे स्पर्श ही नहीं कर पाया था। वैदिक ऋषियोंने सदैव प्रकृतिकी गोदमें प्रश्रयकी कामना की तथा उसके लालन-पालन, पोषणमें अमृतत्वके आनन्दकी अनुभूतिमें अंतस्का उफान छलकता रहा। आशावादकी अनुपमेय गरिमासे मंडित वैदिकसंस्कृतिका यह उद्घोष कितना प्रेरणाप्रद है।

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूषेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात्॥
(अथर्व० १९।६७।२–८)

सौ वर्षसे भी अधिक जीने, देखने, सुनने, ज्ञानार्जन करने बढने, पुष्ट होने और आनन्दमय जीवनकी कितनी कमनीय कामना है। इसी सांस्कृतिक अभ्युदय कालमें आर्यजाति उत्साहमय स्वस्थ वातावरणमें यशस्वी जीवनकी विजय यात्रामें अग्रसर हो रही थी। यह आशामयी भावना वैदिक संस्कृतिकी ही देन है जो विश्वमें अपने ढंगकी निराली है।

आध्यात्मिक सुधासे सृष्टिको सराबोर करना वैदिक-संस्कृतिकी अनुपम विशेषता है इसीसे आत्मिक विकास होता है, जिससे विश्वकी अशान्तिका शमन होता है और विश्वबंधुत्वकी भावना उभरती है। मानव मानवताको परखनेमें सक्षम हो जाता है और बरबसही उसके अंतस्से ज्ञानकी धारा प्रवाहित होने लगती है, युगबोधका भाव छलक पडता है।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते॥
(ऋ. १०।१९१।२)

अर्थात् हे मनुष्यो! जैसे सनातनसे विद्यमान, दिव्य शक्तियोंसे सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भावसे अपने अपने कार्यको करते हैं, वैसे ही तुम भी समष्टि भावनासे प्रेरित होकर एक साथ कार्योंमें प्रवृत्त हो जाओ, एक मतसे रहो और परस्पर सद्भावनाका प्रसार करो। यही नहीं वरन् और भी समन्वयात्मक सृजनका स्रोत वैदिक संस्कृतिसे ही उमड पडा है, यथा।

' समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋ. १०।१९१।४)

तुम्हारे अभिप्रायोंमें, भावनाओंमें, और अंतसमें एकताकी भावना रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्तिका विकास हो सके।

आत्मविश्वासकी भावनाको प्रबलताको संबल वैदिक-संस्कृतिसे ही प्राप्त होता है। आत्माका दमन करना पाप है। तभी तो यजुर्वेदमें कहा गया है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।

वे आत्मघाती हैं जो स्वार्थसंकुचितवृत्ति तथा भोग-परायण हैं। आत्मदहनकर्ता अन्धकारावृत लोकोंमें जाकर नरकके भागी होते हैं। आत्मविश्वासके बिना जीवन व्यर्थ है। आजके वैदिक एवं कर्मसंघर्षरत युगमें मानवकी अशान्तिका मूल कारण आत्मविश्वासकी उपेक्षा ही है, अतः वैदिकसंस्कृतिके इस भावको संजोनेसे आत्मिक व सामाजिक उत्कर्ष संभव है।

वैदिकसंस्कृतिमें मानवमात्रके कल्याणकी भावनाका समावेश ही पूर्णरूपेण है। यह तभी सम्भव है जब मानव सत्यधर्मका पालन करे क्योंकि मानवजीवनके प्रेरक नैतिक तत्त्वोंका नाम ही सत्य है। डा. शास्त्रीने कहा है कि अपने वास्तविक स्वरूपके प्रति सच्चा रहना ही वास्तविक धर्म है जब कि वैदिक आदर्श कहीं इससे भी आगे है। इसके अनुसार मनुष्यका कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नताको समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपताके अनुभवमें ही है। वैदिकसंस्कृतिका उद्घोष है कि सत्यकी ही विजय होती है असत्यकी नहीं।... यथा—

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
(कठ० ३।१।६)

अर्थात् सत्यकी ही विजय होती है असत्यकी नहीं। देवताओंके विचरणका मार्ग सत्यसे ही विस्तृत है। पूर्णकाम ऋषिजन सत्यद्वारा ही उसपदको प्राप्त होते हैं जहां सत्यका वह परम निधान विद्यमान हो। अतः सत्यका पालन आवश्यक है। इसीसे मानव मानवताकी तुला पर गुरुतर हो ईश्वरत्व या महामानवकी प्रतिष्ठासे अभिभूषित होता है। इस मंत्रकी गरिमाको परख कर ही राष्ट्रीय प्रतीकके रूपमें अपनाया गया है।

वर्तमान समयकी बढती हुई अनुशासनहीनता और उच्छृङ्खलतासे समाजकी नाकोंमें दम हो गया है। एक घुटनभरे वातावरणमें पलती हुई वर्तमान पीढी किधर भटकती जा रही है, यह सब पाश्चात्य सभ्यताका प्रभाव ही कहा जा सकता है। जिनके ऊपर राष्ट्रका भविष्य है वही भटक जाएँ कितने दुःखकी बात है ? वैदिकसंस्कृतिका अमर संदेश युगको गढने वाली युवापीढीके लिए भी देखिये कितना उपयोगी है—

> सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद।
> मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।
> आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

सत्य बोलिये। अपने कर्तव्यका पालन कीजिये। स्वाध्यायसे मुंह न मोडिये। माता, पिता, गुरु तथा अतिथिमें पूज्य बुद्धि रखिये। वास्तवमें ये आदर्श कितने अनुकरणीय हैं। यदि इनका पालन किया जाय तो पुनः भारत विश्वगुरुकी गरिमासे गौरवान्वित हो सकता है। अतः आवश्यकता है कि हम इन वैदिक उपदेशोंको, आदर्शोंको अपने जीवनमें उतारें।

वैदिकसंस्कृतिकी महत्तामें 'त्यागभावना' का भी अनन्यतम स्थान है। संसारका भोग त्यागभावसे ही करना चाहिए। आज कुर्सियोंके लिए छीना-झपटी हो रही है। बडे बडे राष्ट्रके कर्णधार भी स्वार्थके वशीभूत हो, अपने अस्तित्वको भूल गये हैं। अपने सुखमें ही समाजको सुखी समझते हैं। यह भावना देशको किस अवनतिके गर्तमें गिरायेगी, कहा नहीं जा सकता। गांधी, नेहरु, शास्त्रीका त्यागमय जीवन भी आज भुला दिया गया है। सबको अपनी अपनी पडी है। अतः वैदिकसंस्कृतिकी चेतावनी है कि भोगवादमें लिप्त रहकर मानवतामें निखार असंभव है।

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'

(कठोपनिषद् १।१।२७)

मनुष्यकी तृप्ति धनसे नहीं हो सकती, अतः त्याग ही श्रेयस्कर है। यह बात नहीं कि पदार्थोंके उपभोगका निषेध है वरन् यह लक्ष्य है कि भोगवादमें न लिप्त हो जाएँ क्योंकि भोगवाद रूपी चट्टानोंसे टकराकर जीवन जलयान चकनाचूर हो जाता है अतः इससे सदैव बचते ही रहना चाहिए। तभी तो फैजीने कहा है कि 'यदि मैं ममता मोहकी मृग मरीचिकामें फंस जाऊं, उस समय कर्तव्यकी पुकार होनेपर मैं अपनी रक्षा त्यागभावसे ही कर सकता हूँ। यदि असमंजसके वात्याचक्रमें कुछ निर्णय न होता हो तथा हमारे ज्ञानचक्षु सांसारिक कृत्रिम चाकचक्यसे चमत्कृत हो गये हों, उस समय वैदिक त्यागभावकी प्रवृत्ति ही भौतिक भावनाओंके कर्दमसे मेरा उद्धार करेगी।' अतः आजकी अकुलाहटभरी परिस्थितिमें नितान्त आवश्यक है कि वैदिक-संस्कृतिके ज्ञानालोकसे ही संसारको आलोकित कर युगको उबारें।



श्री प वीरसेन वेदश्रमी

वैदिक-संस्कृति और समाजवाद

☆

संस्कृतिसे व्यक्ति संस्कृत होता है। सुसंस्कृत व्यक्तियोंसे ही सभ्यताका समाजमें विकास होता है। सभ्यताके समाजमें विकाससे ही समाजवाद विकसित होता है। मानवकी जबसे उत्पत्ति हुई, तबसे संस्कृति, सभ्यता, समाजका विकास होता रहा, जिसकी प्रेरणा वेदने मानव जातिको प्रथम प्रदान की। परन्तु इस समाजवादकी स्थापना तो परमात्माने अपने अखिल ब्रह्माण्डमें जड और चेतन सभीमें की हुई है अन्यथा सृष्टि, कार्य करनेमें कदापि सक्षम नहीं होती। पशु-पक्षी भी समाजवादके आधारपर जीवन यापन करते हैं।

वेदने समाजवादके बारेमें जो प्रेरणायें सृष्टिके प्रारंभमें प्रदान की हैं वे आज भी वैसी ही उपयोगी हैं और भविष्यमें भी पथप्रदर्शन करनेवाली हैं।

ब्रह्ममें समाजवादका दर्शन

समाजशास्त्र ही मानव धर्म है अथवा मानवधर्मका ही अपर पर्यायवाची शब्द समाजशास्त्र है। इस विशाल ब्रह्माण्डका संगठन एक परिवारके रूपमें है। परमात्मा उसका स्वामी है। संसारकी विविध शक्तियां उसके अंगरूपमें हैं। वेदने इसको निम्न रूपमें वर्णित किया है—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चंद्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व. १०।७।३३)

जिस महान् विराट् ब्रह्मके सूर्य एवं चन्द्र नेत्रतुल्य हैं, अग्निमुखतुल्य है उस परब्रह्मको हमारा श्रद्धापूर्ण अभिवादन है। इस प्रकार इस मन्त्रद्वारा वेदने सृष्टिके जड पदार्थोंका एक विराट् ब्रह्ममें एक शरीररूपमें वर्णन किया है। यह सृष्टिका समाजवाद है। समाजवादमें विभिन्न व्यक्ति अपनी अपनी-अपनी योग्यता एवं पात्रताके आधार पर अपना-अपना कार्य एवं जीवन निर्वाह करके समाजके एक विशाल जीवनमें एक दूसरेके अंगांगी बनकर, एक दूसरेके सहयोगी बनकर एवं एक दूसरेके पूरक बन कर कार्य करते हैं उसी प्रकार सृष्टिमें भी अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा अनेक सूक्ष्म शक्तियां एवं तत्त्व क्रमपूर्वक कार्य कर रहे हैं। मनुष्य अपनी मार्यादायें तोड देता है। वह अपने नियमोंको भंग कर देता है परन्तु सृष्टिके तत्त्व अपनी मर्यादा एवं नियमोंको भंग नहीं करते। यह सृष्टि अपने सुदृढ समाजवादी नियमों पर चल रही है।

ब्रह्म से मानव-समाजवाद

वेदने जडजगत्में समाजवादका दर्शन जहां कराया है वहां चैतन्य जगत्में-मानव जगत्में भी समाजवादकी व्याप्ति बतानेके लिये मानवको अपने शरीरमें अंग रूपसे प्रतिपादित करके एक संगठनमें रहकर समाजवादकी प्रेरणा निम्न मंत्रमें दी है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(यजुः अ. ३१।मं. ११)

मानवसमाजमें ब्राह्मणवृत्तिके व्यक्ति जो विद्यादिमें ही विशेष यत्नशील रहते हैं वे उस विराट् पुरुषके या पुरुष समाजके मुखतुल्य हैं। जो क्षत्रिय अर्थात् रक्षणादि क्रियामें विशेष रूपसे संलग्न रहनेवाले एवं रुचि रखनेवाले हैं वे बाहु के तुल्य हैं। जो व्यक्ति या वर्गविशेष व्यापार-व्यवसायादि में विशेष प्रयत्नशील हैं और जो ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों को अपनी शारीरिक सेवामें अर्पित करके उनको अपने अपने मुख्य प्रयत्नोंमें संलग्न रहनेके लिये अधिकाधिक सुअवसर प्रदान करते हैं ऐसे व्यक्ति उस परब्रह्मके एवं समाजके आधार-स्तम्भ-रूप पादतुल्य हैं।

इस प्रकार वेदने जड एवं चेतनमें, मानवके वर्गीकृत प्रयत्नोंमें शरीर एवं उसके अभिन्न अंगोंकी स्थिति प्रतिपादित करके एक समाजवादके निर्माणका उपदेश किया है। सृष्टिमें और उसके रचयितामें जब समाजवाद है तो सृष्टिके समस्त पदार्थोंके जीवनमें भी समाजवाद ही है और उसका दर्शन पशु-पक्षियोंमें भी होता है।

पशु-पक्षियोंमें समाजवाद

गौ, बकरी, भेड आदि पशुओंमें; शुक, कपोत, मधुमक्खी, क्रौंच आदि पक्षियोंमें एवं चीटी, चींटे, दीमक आदि अति-क्षुद्र प्राणियोंमें समूहमें रहनेकी अति प्रबल भावना है। क्रौंच पक्षियोंका पंक्तिमें उडना, चींटियोंका एवं चींटोंका स्वच्छ मार्ग निर्माण करके पक्तिबद्ध चलना और अपने खाद्यको एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाना और संग्रह करना, मधुमक्खियोंका अपने सुन्दर निवासका निर्माण, उनके शिशुजनन एवं मधुका संचय, एक विलक्षण अनुशासन एवं कलाका द्योतक है।

मोरका नृत्य, कोयलका मधुर कूजन, बया आदि पक्षियोंका सुन्दर कला-पूर्ण घोसलोंका निर्माण, दीमकोंका अनेक अनेक मंजिल कलापूर्ण गृहका निर्माण, पशुओंका अपनी गुफाओंका, चिडियोंका तथा पक्षियोंका अपना आवास स्थान निर्माण, मकडियोंका सुन्दर जाल निर्माण, रेशमके कीडोंका सुन्दर तन्तु निर्माण, सर्पका सुन्दर केंचुली परिधान तथा उसका परित्याग, तितलियोंकी विविध वर्णयुक्त साज-सज्जा, सीप, शंख, मोती आदिका अपने अपने दुर्गके निवास तथा इन सबका अपने निवास, भोजन, रक्षा, आक्रमण, गमनागमन आदिके कार्य समाजशास्त्रके परिचायक हैं।

समाजशास्त्र ही मानवधर्म है

परमात्माकी सृष्टिसे समाजके बारेमें हम बहुत कुछ *इनसे सीख कर अपने समाजशास्त्रका निर्माण कर सकते* हैं। मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है। बिना समाजके इसका निर्वाह नहीं हो सकता और न इसके ज्ञानविज्ञान, कला-कौशल एवं सभ्यता-संस्कृतिका ही विकास हो सकता है। यही समाजव्यवस्था मानवधर्मके विकासका प्रमुख अंग है। अतः मनुष्यको इस मानवधर्मका पालन करना चाहिये और इसका विकास करते रहना चाहिये।

विकसित मानवसे ही विकसित मानवसमाजका निर्माण होगा और विकसित मानवसमाजसे मानवके व्यक्तित्वका विकास होगा। अतः यह मानवधर्म परमावश्यक है। इसीलिये वेदने समाजका प्रथम सूत्र-मन्त्र हमें निम्न दिया है—

समाजवादका प्रथम सूत्र

मनुर्भव (ऋ. १०।५३।६)

अर्थात् ए मनुष्य! तू इस मानवदेहको प्राप्त कर मनुष्य बन, मननशील बन।

संस्कृति एवं सभ्यताका जीवनसे उद्गम

जिन मनुष्योंमें जितनी ही अधिक उत्तम सामाजिक भावनायें जागृत की जावेंगी, उनमें उतना ही उत्तम सामाजिक जीवन विकसित हो सकेगा। सामाजिक जीवन, व्यक्तिगत जीवनके अनुरूप विकसित होता है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवनके निरन्तर प्रवाहमें संस्कृति एवं सभ्यताका विकास होता जाता है।

वेदने संस्कृतिके विकासके मूल मन्त्रका उपदेश दिया कि विद्या धन, ऐश्वर्यका दूसरोंको दान सदा करते रहना चाहिये। इससे श्रेष्ठ भावना, परस्पर मित्रता, जीवन, उन्नति एवं गति समाजमें होती है।

समाजवादका द्वितीय सूत्र-मन्त्र

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य
रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा

स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः ॥ (यजु. ७।१४)

अर्थात् हे सौम्य गुणयुक्त, हे सर्व ऐश्वर्यके केन्द्र परमात्मन् ! आपने इस सृष्टिमें जो विविध ऐश्वर्य भर रखा है और उसके उपयोग लेनेकी हमें बुद्धि एवं सामर्थ्य दी है, उसके द्वारा हम आपके उस ऐश्वर्य, विद्या, धन एवं कल्याणके *निरन्तर प्रवाह रूपसे* देनेवाले हों। हमारेमें यह स्वार्थवृत्ति न जागृत हो कि संसारका ऐश्वर्य, धन, विद्या आदिका कल्याण-पथ हमारे ही लिये है, अपितु यह सबको देने एवं सबके उपयोगके लिये है। सभी इसके अधिकारी हैं, यही सर्वप्रथम सबको ग्राह्य करने योग्य संस्कृति व्यवहार एवं नीति है। यही भावना सर्वप्रथम सबको मित्र बनानेकी है श्रेष्ठ बनानेकी है और जीवन तथा गति देनेवाली है।

जीवन व्यवहारसे संस्कृति एवं सभ्यताका प्रवाह

सभ्यताका सम्बन्ध बाह्य वातावरण एवं व्यवहारसे होता है। उसमें देशकाल परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार शीघ्र परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु जिस मूल विचार या परम्पराके आश्रित अथवा जिन दार्शनिक मान्यताओंके आधार पर सभ्यता अपने मूल उद्गमसे प्रेरणा प्राप्त कर अपना अस्तित्व बनाये रखती है, वह संस्कृति है। जिस प्रकारसे नदी अपने उद्गम स्थानसे प्रवाहित होकर आगे विशाल क्षेत्रोंको सिंचित एवं पल्लवित करती रहती है उसी प्रकारसे सभ्यताका जो उद्गम स्थल है वह कालान्तरमें संस्कृति संज्ञक हो जाता है और उसमें प्राचीन परम्परा एवं विचारोंका अजस्र प्रवाह एवं पवित्रता, सभ्यताको प्राप्त होती रहती है तथा उस सभ्यतासे समाजका जीवन व्यवहार चलता है।

उच्च संस्कृति एवं सभ्यताके लिए परमात्माकी मान्यता

सामाजिक उच्च भावनायें जो वेदमें प्रतिपादित हैं बहुत ही उत्तम हैं और उन पर आरूढ होकर विश्व वास्तवमें सुखी रह सकता है। वैदिक समाजवादका आदर्श अखिल-ब्रह्माण्डका एक स्वामी स्वीकार करना और उसके अन्तर्गत जितने भी प्राणी हैं चाहे वे मनुष्य हो या पशु सबको उस एक अखिल ब्रह्माण्डके स्वामीकी सन्तान या प्रजा मानना है। वेद इस बारेमें कहता है—

समाजवादका तृतीय सूत्र–मंत्र

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। (यजु. १३।४)

वह परमात्मा इस उत्पन्न हुए जगत्का प्रसिद्ध एकमात्र स्वामी है। वही—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
(यजु. २५।११)

वह परमात्मा इस संसारका एकमात्र राजा अधिपति है। मानवके अन्दर इस भावनाको जागृत करनेकी आवश्यकता है, जिससे अपने स्वार्थके लिए मानव अपनेमेंसे संहारक वृत्तिका उच्छेद कर सके। विश्वके प्राणिमात्रके प्रति प्रेमकी भावनाका उदय हो और सब परस्पर प्रेम-पाशमें आबद्ध हों। सब एक दूसरेकी पालन-पोषण करनेकी भावनासे युक्त होकर व्यवहार करें। इस प्रकारके मानवके व्यवहार, कल्याणकारक तथा सुखदायक संसारमें सबके प्रति हो सकें।

उच्च संस्कृतिमें प्राणिमात्रके कल्याणकी भावनाका दर्शन

इसी भावनाको जागृत करनेके लिये वेदमें निम्न प्रार्थना है—

समाजवादका चतुर्थ सूत्र–मन्त्र

शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे
(ऋ. ७।५४।१)

हे प्रभो ! आप हमारे मानव एवं पशु जगत्के लिए सदा कल्याणकारी और सुखदाता होइये और हम भी उसीके अनुसार सबके लिए सुखदाता बनें। वेदकी यह भावना वर्तमान सामाजिक जीवनकी शिक्षाके मूलमें होनी चाहिये। सबके प्रति कल्याणकी भावना जागृत हुए बिना हम कैसे आदर्श समाजका निर्माण कर सकेंगे? इस भावनाके जागृत होने पर—

वैदिकसंस्कृतिसे मानवोंकी रक्षा समाजवादका पंचम सूत्र–मन्त्र

पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वतः। (यजु. २४।५१)

मानव, मानवकी सब प्रकारसे, सब ओरसे, सब साधनोंसे प्रीतिपूर्वक अच्छी प्रकार रक्षा करनेके प्रयत्नोंपर अग्रसर हो सकेगा।

आज संसारमें मनुष्य अनेक वर्गवाद, जातिवाद एवं राष्ट्रवादोंमें विभक्त हो गया है। एक वर्ग दूसरे वर्गपर, एक जाति दूसरी जातिपर, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रपर, एक देश दूसरे अपने पडौसी देशपर, एक विचारधाराके व्यक्ति दूसरी विचारधाराके व्यक्तियोंपर, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर अपना सामाजिक, जातिगत, भौगोलिक, व्यापारिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, वैचारिक एवं साम्प्रदायिक आधिपत्य करनेके लिये एक दूसरेके प्रति अविश्वासी, द्रोही, क्रूर, हिंसक और निर्लज्ज बनकर कौनसी कुटिलता, पाशविकता, बर्बरता, असभ्यता और अन्याय नहीं कर रहे हैं?

अपनेको सभ्य माननेवाले सभी राष्ट्र क्या पशु-पक्षियोंके रक्तसे इस पृथिवीको रक्तरंजित नहीं कर रहे हैं? अपने हठ एवं दुराग्रहको दूसरे राष्ट्रोंपर लादनेके लिये और स्वार्थसिद्धि करनेके लिये क्या मानवके रक्तकी नदियां नहीं बहाई जा रही हैं? एक दूसरेको सर्वथा विनष्ट करनेके लिये भयंकरतम अस्त्रोंके निर्माणमें सब राष्ट्र अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा रहे हैं। हिंसासे शान्तिका स्वप्न लेनेवाले, समाजमें कभी प्रेमका साम्राज्य और एकत्वकी भावना जागृत नहीं कर सकते। अतः मनुष्यके अन्दर विशाल सामाजिक भावनाको जागृत करनेके लिये प्रत्येकको—

' पुमान्पुमान्सं परिपातु विश्वतः '

वेदके इस महावाक्यका, कार्यके प्रत्येक क्षेत्रमें सर्वदा स्मरण कर अपने व्यवहारको उत्तरोत्तर परिष्कृत बनाना चाहिये और मानवताके निर्माण एवं उन्नतिमें सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। प्रत्येककी रक्षा एवं पालनका कार्य सद् भावनासे करनेसे ही संसार सुखी एवं समृद्ध हो सकेगा।

इसी भावनाको दृढ करनेके लिए वेदने कहा—

मा हिंसीः पुरुषं जगत्। (यजु १६।३)

मानव समाजकी— पुरुषकी— हिंसा मत करो। यह रक्षणीय है, पालनीय है। संसारका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। विद्या एवं विज्ञानका यह कोष है। कला कौशलका अद्भुत सर्जक है। परमात्माके पश्चात् यही इस सृष्टिका स्वामी है। इसमें अपूर्व पुरुषार्थ है। इसमें अद्भुत चिंतनशक्ति है। इसके अन्दर महान् देवत्व है। देवोंकी यह दिव्यपुरी है। स्वर्गका कल्पवृक्ष यही है। यह अपनी कल्पनासे इस संसारमें विविध प्रकारकी सृष्टिका सर्जन करता है। यह वध करने योग्य नहीं है क्योंकि इसकी रक्षासे सारे जगत्का कल्याण है। इसीलिये वेदमें समस्त जगत्के कल्याण, प्रसन्नता एवं आरोग्यताकी प्रार्थना की गई है—

समाजके निर्माणके लिये शुभ मनकी आवश्यकता

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्॥
(यजु. १६।४)

हे समस्त प्राणियोंकी वाणियोंके ज्ञाता परमेश्वर! वचनोंके द्वारा हम आपसे बडी नम्रतासे प्रार्थना करते हैं, आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे सारा जगत् नीरोग एवं शुभ मन वाला हो।

खराब मन ही संसारमें अशान्ति, रोग, दुःख आदि उत्पन्न करता है। संसारके प्राणियोंका मन शुभ करनेके लिये ही समाजशास्त्रकी रचना है। जिस कार्यसे सबकी उन्नति हो, सबमें सुख बढे उसको अंगीकार करना चाहिये। जिन कामोंसे सबकी उन्नतिमें बाधा पडे और केवल अपना ही भला हो ऐसे कार्यको त्यागना चाहिए।

सामाजिक सर्वहितकारी नियमोंके पालन करनेमें समाजको कटिबद्ध होना चाहिये। इससे भूमण्डलमें मानवताका विकास होगा। समाज सुखी और सम्पन्न होगा। परस्परके रागद्वेष, वैर-विरोध, लूट व आतंक, भय और शंका, अशान्तियां और क्रान्तियां, गृह-कलह एवं महायुद्ध, हडताल और प्रदर्शन, मानव-जीवनके व्यवहारसे एक बार लुप्त हो जायेंगे। मनको निर्मल करनेसे ही समाजका विशाल एवं सुखीरूप सम्मुख आ सकता है। अतः मानवसमाज संसारके उपकार करनेके मुख्य उद्देश्यको ग्रहण करे जिस का वेद विविध प्रकारसे संकेत कर रहा है।

सत्यसे समाजवादका विकास

समाज निर्माणके पूर्वोक्त आदर्शको मानवमें व्याप्त करनेके लिये आवश्यक है कि हमारा परस्परका व्यवहार सत्यपूर्ण होना चाहिये। बिना सत्य व्यवहारके हम सब एक दूसरेकी रक्षा नहीं कर सकेंगे। सत्यके व्यवहारसे ही निश्छल, सत्य प्रेमका उदय होगा।

यदि समाजके व्यक्तियोंका व्यवहार सत्यपूर्ण नहीं होगा तो परस्पर प्रेम, विश्वास और रक्षाकी भावनाकी जागृति नहीं हो सकती है। वेद इस सत्य सनातन, ध्रुव सिद्धान्तके

बारेमें कहता है कि असत्यमें कभी श्रद्धा, प्रेम, विश्वास आदि नहीं हो सकते हैं। सत्यमें ही श्रद्धा, प्रेम, विश्वास होते हैं।

यदि कोई व्यक्ति असत्यके प्रति श्रद्धा करता है तो वह भी उसको असत्य जानकर श्रद्धा नहीं करता अपितु सत्य समझ कर ही श्रद्धा, प्रेम या विश्वास करता है और ज्योंहि उसको यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक बात असत्य है तभी से उसका पूर्ण विश्वास, प्रेम, श्रद्धा या मान्यता नष्ट हो जाती है। अतः श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि सत्यके ही प्रति जागृत होते हैं। इसीलिये वेदने कहा है :—

समाजवादका षष्ठ सूत्र–मन्त्र

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः॥
(यजु. १९।७७)

इस जगत्में प्रजापतिने असत्य और सत्यका भेद करके श्रद्धाको सत्यमें स्थापित किया और अश्रद्धाको असत्यमें स्थापित किया। अतः समाजशास्त्रका आधारभूत यह सिद्धान्त भी कि–सत्यके ग्रहण करने और असत्यके त्यागनेमें मानव–समाजको सदा उद्यत रहना चाहिये–इसका बहुत ही आदर एवं उदारतासे, स्वार्थभावनाओंको त्याग कर प्रचलित करना चाहिये।

सत्यसे समाजमें प्रीतिका उद्गम

सत्य–व्यवहारसे श्रद्धा एवं प्रीतिकी सबके प्रति भावना व्यवहार रूपमें बनी रहेगी और उससे समस्त मानव सुखी तथा परस्पर एक सूत्रमें प्रेमसे आबद्ध रहेंगे। सबके हृदयमें सत्य व्यवहारसे प्रेमभाव जागृत होगा। प्रेमकी भावना जागृत न रहने पर परस्पर छल–कपट एवं असत्यका व्यवहार होने लगता है। उससे समाजमें कलह एवं अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। समाज एक सूत्रमें आबद्ध नहीं रह पाता। अतः सबसे प्रीतिपूर्वक सत्य, रक्षा, प्रेमादि धर्मोंके अनुसार वर्तनेके लिये, समाजके प्रत्येक व्यक्तिके हृदय एवं मनको एक समान, प्रीतियुक्त बनानेके लिये वेद आदेश देता है—

समाजवादका सप्तम सूत्र–मन्त्र

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
(अथर्व. ३।३०।१)

अर्थात् तुम सबके हृदयोंको मैं सहृदय बनाता हूँ जिससे तुम जैसे अपने लिये सुखकी कामना करते हो उसी प्रकारसे अन्योंके लिये भी समान हृदयवाले रहो। तुम्हारे मनोंको परस्पर एक दूसरेसे प्रसन्न रहनेवाला बनाता हूं और उन मनोंको वैर–विरोध रहित व्यवहारके लिये बनाता हूं। हनन न करने योग्य गाय जिस प्रकार उत्पन्न हुए बछडे पर वात्सल्य – भावसे बर्तती है, वैसे तुम एक दूसरेसे प्रेमपूर्वक, वात्सल्यभावसे बर्ताव किया करो।

इसका तात्पर्य यह है कि इस मानवदेहमें परमात्माने मन एवं हृदयोंमें सहृदयता एवं समानताके भावोंके अंकुर स्थापित कर रखे है। उन अंकुरोंको हमें पल्लवित एवं पुष्पित करनेके लिये हृदय एवं मनको कल्याणकारी, शुभ भावनाओंके मधुर एवं उत्तम जलसे सिंचित करना चाहिये, जिससे प्रत्येक व्यक्तिका, छोटे–बडेका परस्पर प्रेम, गौ एवं उसके बछडेके तुल्य दृष्टिगोचर होने लगे और परस्पर प्रेम-मय दूधका आदान–प्रदान कर समस्त समाज प्रसन्न एवं पुष्ट हो सके।

समाजमें प्रत्येक व्यक्तिका स्थान छोटा और बडा अपेक्षा-कृत है। कोई किसी न किसीसे आयुमें, विद्यामें, बलमें, धनमें, शक्तिमें छोटा और बडा दोनों ही स्थितिमें है। छोटेका अपनेसे बडेके प्रति और बडेका अपनेसे छोटेके प्रति वात्सल्य भाव रक्षा एवं पोषण गौ और बछडेके समान विशुद्ध होना चाहिये। इस वात्सल्य भावसे समाजमें स्वर्गीय दिव्य-प्रेम प्रकट होगा और समाज वास्तवमें स्वर्गीय सुख अनुभव करेगा।

समाजके व्यक्तियोंका मन शिवसंकल्प वाला हो

समाजके व्यक्तियोंके मनोंसे ही समाजके विचारोंका उद्गम होता है और उससे कर्मोंकी प्रवृत्ति होती है। समान रूपसे व्यक्तियोंके मनोंके विकाससे सामूहिक कर्मोंकी प्रवृत्ति बनती है। सामूहिक कर्म समाजके निर्माणमें परम सहायक हैं। यदि समाजके व्यक्तियोंके मन अच्छे होंगे तो समाज सुदृढ और समुन्नत होगा। अतः वेद कहता है–

समाजवादका अष्टम सूत्र–मन्त्र

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (यजु० ३४।१)

मेरा मन शिव, कल्याणकारी, शुभ, उत्तम संकल्पवाला हो। समाजशास्त्रका यह सिद्धान्तप्रतिपादक वैदिक सूत्र या

x

मन्त्र सदा स्मरणीय है। समाजकी तथा उसके समस्त व्यवहारकी मानसिक पृष्ठभूमि बनानेके लिये यह आदर्श-तुल्य है। समाजके मनके शुभ होने पर वह समाज दोष-रूपी शत्रुओंसे भी बच सकेगा। मे मनः शिवसंकल्पमस्तु-के निर्माणके लिये वेदने निम्न प्रयत्न करनेका आदेश दिया है—

दुष्टभावोंका त्याग करें

नवम–सूत्र–मंत्र

दुर्मतिं जहि। (यजु० ११।४७)

दुष्ट-बुद्धिको सब प्रकार दूर करे। दुष्ट-बुद्धि ही सब अनर्थोंकी जननी है। इन अनर्थोंसे दुःख होते हैं अतः दुर्मतिके त्यागनेसे—

प्राणिमात्रको दुःखोंसे दूर करें

दशम सूत्र–मंत्र

दुरितानि परा सुव (यजु० ३०।३)

समस्त दुःख दूर किए जा सकते हैं, अतः समस्त दुःख दूर हों यह प्रयत्न करना चाहिए। जो समाज इन मन्त्रोंका जप करेगा और सदा इनका अनुष्ठान करेगा तथा इसके अनुसार कार्य करेगा वह सुखी एवं उन्नत बन सकेगा। उस समाजके व्यक्तियोंके जो दूषित एवं कष्टदायक कर्म हैं वे दूर ही रहेंगे और—

सुखोंका सर्वत्र प्रसार करें

ग्यारहवां सूत्र–मंत्र

यद्भद्रं तन्न आसुव (यजु० ३०।३)

जो कल्याणप्रद विचार एवं कर्म हैं वे सबको प्राप्त होंगे। अतः मानव समाजको, इसके प्रत्येक व्यक्तिको 'यद्भद्रं तन्न आ सुव' इसको सम्यक् प्रकार चरितार्थ करना होगा।

'दुरित-क्या है? और 'भद्र' क्या है? इसका ज्ञान समाजको होना चाहिए। जीवनको भद्रोन्मुख करना चाहिए। संसारमें आज जो कहीं भी भद्रकी प्रतीति होती है उसका जो स्रोत है उसकी ओर यदि हमारा समाज निरन्तर बढता जावे तो समाज स्वयमेव आनंदमय, कल्याणमय एवं शिवमय हो जायगा। अतः समाजका सम्पूर्ण रूपसे प्रयत्न 'दुरितानि परासुव' और 'यद्भद्रं तन्न आ सुव' की साधनामें लगना चाहिए।

दुःख निवृत्ति एवं सुख–प्राप्तिकी साधना

इन दोनों साधनाओंके लिए समाजको कर्म करने होंगे। उनके लिए कठोर श्रम–तप–करना होगा। समाजमें ओज और तेज भरना होगा। समाजके जनोंको श्रेष्ठ कल्याणकारक कर्मोंको करने तथा त्याज्य कर्मोंको छोडनेके लिए मनकी प्रबल शक्तिके साथ दृढप्रतिज्ञ बनना होगा। व्रत, नियम आदिका कठोरतासे पालन करना होगा। शुभ–गुण–कर्मोंका शरीर, वचन एव मनसे पालन करनेके लिए तथा शुभ संस्कारोंकी स्थापना, जागृति एवं प्रचारके लिए विविध प्रयत्नोंको करने लिए कृतप्रतिज्ञ होनेका ही नाम–व्रत ग्रहण-है। अतः व्यक्ति एवं समाजके निर्माणमें व्रतोंका अत्यन्त महत्त्व है। जिस समाजके व्यक्ति शुभ–गुणोंके ग्रहण करनेके लिए कृत–सकल्प हों और इसके अनुसार अनुष्ठान या आचरण करके अपने शरीर, आत्मा एवं मनको दोषोंसे पृथक् रखनेका प्रयत्न करके शुभ–गुणोंसे अपने शरीर, मन एवं आत्माको परिपूरित करेंगे वह समाज शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक दृष्टिसे अवश्य उन्नतिशील सदा बना रहेगा। इसीलिए वेदने कहा—

व्रतोंपर आचरण करो

बारहवां सूत्र–मन्त्र

व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत ॥ (यजु० ५।११)

व्रत करो, जीवनमें व्रतोंको धारण करो जिससे सर्व प्रकारके शुभ–गुणोंकी अपने अन्दर स्थापना निरन्तर होती है। नियमोंपर आरूढ रहना व्रत है। नियम जीवनके लक्ष्यकी ओर बढनेकी प्रेरणा देता है और व्रत उसका क्रियाशील पक्ष है ज्ञान और कर्मका समन्वयात्मक समुच्चय जीवनको उन्नतिशील बनाता है।

सृष्टिके पदार्थ व्रतपति हैं

नियम एवं व्रतोंका सार्वजनिक एवं सर्वहितकारी रूप समाजका प्राण है। जब हम सृष्टिके कार्य एवं उनके पदार्थों-पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे बिना किसी भेदभावके समान रूपसे सार्वजनिक एवं सर्व-हितकारी रूपमें हो रहे हैं। सृष्टिके विविध कार्य–कलापके केन्द्र वे पदार्थ भी वेदके शब्दोंमें व्रतपति हैं।

अग्नि व्रतपति है

वेद हमें बताता है कि—

अग्ने व्रतपाः (यजु० ५।६)

हे अग्नि ! तू व्रतोंका पालन एवं रक्षण करने वाला है। सृष्टि-रचनामें सबसे महान्, सब व्रतपतियोंके भी व्रतपति परमात्माने अग्निको प्रकाश, गति, उष्णता आदि अनेक शुभ गुणोंसे युक्त करके, इन गुणोंके धारण करने और इनका प्रसारण करनेका व्रती बनाया है। वह अग्नि अपने व्रतोंका तभीसे अब तक पालन कर रहा है और जब तक सृष्टि रहेगी तब तक पालन करेगा। अग्निके इस प्रत्यक्ष व्रतको देखकर जन-समाजमें तदनुकूल दृढतापूर्वक सार्वजनिक, सर्वहितकारी नियमोंका दृढतासे पालनकी प्रेरणा जागृत करनेके लिये वेद निम्न मन्त्र द्वारा प्रेरणा दे रहा है—

मनुष्य व्रतों पर चलें

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ (यजु: १।५)

हे व्रतपते अग्ने ! आप जिस प्रकारसे अन्धकारको दूर कर सत्यका प्रकाश करने वाले हैं, उसी प्रकार मैं भी जनसमाजके अज्ञानान्धकारको दूर कर सत्यके प्रकाश करनेका अविद्याके नाश और विद्याकी वृद्धिका, असद्व्यवहारको दूरकर सद्-व्यवहारके प्रचारका व्रत लेता हूं। अर्थात् मैं भी तुम्हारे सदृश नियमित रूपसे, बिना किसी प्रमादके यह कार्य करता रहूंगा। यह मेरा स्वभावरूप कर्म बन जावे। अतः व्रतके रूपमें इसे अंगीकार करके अपने शरीर, मन और आत्माको इसके अनुरूप बनानेका प्रयत्न करूंगा। यह मेरा व्रतानुष्ठान कार्य समर्थ बने, ऐसी प्रेरणा मैं आपके द्वारा, आपके गुण-धर्म-व्रतोंको देखकर प्राप्त कर सकूं। इस प्रकार आप मेरे व्रतको सिद्ध कीजिये।

व्रत-नियमादि अनुष्ठानके लिये मन, वचन एवं कर्मसे जब तक सत्यचिंतन, सत्यवचन एवं सत्यकर्म करनेका प्रयत्न नहीं होगा, तब तक इस व्रतकी सिद्धि नहीं होती है। अतः व्रतानुष्ठानकर्ता मैं, त्यागने योग्य अनृत-भागको छोड़कर, ग्रहण करने योग्यको अधिक निकटता, प्रीति एवं श्रद्धासे ग्रहण करता हूं।

व्रतोंसे समाजमें आदर्शका निर्माण

जब समाजका प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवनमें इस मन्त्रकी भावनासे ओतप्रोत होकर प्रत्येक व्यवहारमें सार्व-जनिक हितको लक्ष्यमें रख कर शुभ-गुणोंके ग्रहणके लिये सत्य व्यवहारको अंगीकार करता रहेगा, तो ऐसा समाज आदर्श समाज बन जायेगा और उसमें असत्य, छल, कपट धोखा, कूटनीतिका सर्वथा अभाव हो जायगा। इस प्रकार परस्पर विश्वास, प्रेम और सहानुभूतिका सतत प्रवाह बहता रहेगा और उसमें समाजमें सुख, शान्ति और आनंदका साम्राज्य बना रहेगा। ऐसे राष्ट्रमें जन समाज पर पुलिस, सेना एवं गुप्तचरों आदिका अंकुश नहीं होगा अपितु सद्भावना, प्रेम सर्वहितकारी, सर्वोदयी भावनाओंके व्रतोंका स्वेच्छया अंकुश होगा। उस अवस्थामें बडी-बडी कोतवालियां, हवालातें, विशाल कारागृह और गगनचुम्बी न्यायालयोंके भवनोंकी आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

अव्रती समाज पतित हो जाता है

समाजके व्यक्ति जब समाजके आदर्शोंसे पतित हो जाते हैं और सार्वजनिक तथा सर्वोदयी भावनाओंको त्याग कर स्वार्थ-परायण हो जाते हैं तभी असत्य, अविश्वास, छल, कपट, कूटनीति, भ्रष्टाचार, कलह, अशान्ति, लूट, युद्ध आदिका जन्म होता है और धीमे धीमे सम्पूर्ण समाज और राष्ट्रका एक कारागारके रूपमें अपनेको आबद्ध पाता है। अतः समाजको इन सब दोषोंसे पृथक् रखनेके लिये आचारको समाजका परम धर्म मान्य करना चाहिये।

चरित्र शुद्धिकी आवश्यकता

विविध प्रकारके आचार-विचार एवं चरित्रोंकी शुद्धिकी पुष्टि करनेके लिये वेद निम्न शब्दोंमें उपदेश दे रहा है :—

तेरहवां सूत्र-मन्त्र

चरित्रांस्ते शुन्धामि। (यजु. ६।१४)

तेरे चरित्रोंको शुद्ध करता हूं। चरित्रका तात्पर्य उन सब कर्मोंसे है जिनके द्वारा हम विविध प्रकारके अपने व्यवहारोंको सम्पन्न करते हैं। अर्थात् हमारा आचार व्यवहार, शील-स्वभाव, संकल्प एवम् कर्म सब प्रकारसे शुद्ध पवित्र होने चाहिये।

हम व्रतोंके द्वारा अपने आचरणको और चरित्रको शुद्ध करते हैं। अतः व्रतपति अग्निके व्रतों या कर्मों एवं गुणोंको देखकर अपने में भी गुण धारण करें।

सूर्य, चंद्र, वायु आदिका व्रत

सृष्टिमें सूर्य भी व्रतपति बनकर नियमित रूपसे कार्य कर रहा है। चन्द्र भी व्रतपति बनकर, अपने नियम पर आरूढ होकर अपना मंगलमय व्यवहार सम्पादित कर रहा है। आजसे लाखों, करोडों वर्ष पूर्व भी, सूर्य एवं चन्द्रके उदय अस्तका जो क्रम था, वह आज भी उनमें दृष्टिगोचर हो रहा है। सूर्यने कभी शीतलता प्रदान नहीं की और न चन्द्रमाने कभी उष्णता प्रदान की। वायु भी व्रतपति बनकर संसारको प्राणोंसे पूर्ण कर रहा है।

जगत्‌में इन व्रतपतियोंको देखकर सृष्टिके आदिसे प्रलय-पर्यन्त हम उपदेश करते हुए अपने चरित्रोंका निर्माण कर सकते हैं। इसलिये-सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि-चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि-वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि-आदि मन्त्रों का समन्वय, बालकका जब उपनयन संस्कार होता है और उसको शूद्रत्वसे द्विजत्वमें प्रवेश कराया जाता है। उसको सृष्टियज्ञके इन सब व्रतपतियोंको लक्ष्यमें रहकर उनके व्रतों को देख एवं अनुभव करके व्रती बनना पडता है और व्रतोंको स्वीकार करना पडता है :—

सूर्य एवं चन्द्रके अनुसार गति करो

चौदहवां सूत्र–मन्त्र

स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
(ऋ ५।५१।१५)

हम सूर्य और चन्द्रके कल्याणकारी मार्गोंको अच्छी प्रकार जानें। तदनुसार हम अपने जीवनमें उनके गुणों एवं नियमोंको धारण करके समाजको भी कल्याणकारी मार्गोंसे ले चलें। सूर्य और चन्द्रके कल्याणप्रद कार्योंसे सृष्टिमें जड और चेतन जगत्‌का व्यवहार चल रहा है अतः हमें भी अपने समाज या राष्ट्रके नियमित संचालनके लिये, उनसे समाजके संरक्षण, पालन और समृद्धिके आदर्शोंको ग्रहण करना चाहिये।

परमात्माका यह विश्व अपने कर्तव्य एवं नियमसे हमें सदा शिक्षा देता रहेगा। ये हमारे सदाके पथप्रदर्शक हैं। इनमें ही सारा रहस्यमय विज्ञान भरा हुआ है। इसीलिये वेद पुनः कह रहा है—

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते (यजु. २।२६)

सूर्यका जो आवर्तन क्रम है, जिसकी नियमिततासे कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान्‌से महान् भी परिमाण निर्मित हो रहा है, दिन और रात्रिका चक्र चल रहा है, शुक्ल और कृष्ण पक्ष, मासोंका निर्माण कर रहे हैं और मासोंसे ऋतुओंका क्रमपूर्वक निर्माण, उनसे अयन, अयनोंसे संवत्सर, युग, कल्पमन्वन्तरादिका निर्माण हो रहा है और उससे सृष्टिमें भी जीवनका आवर्तन क्रम चल रहा है, उसी प्रकारसे समाजको भी विविध परिस्थितियोंमें जीवित, जागृत, समृद्ध, विजयी एवं तेजस्वी बनाये रखना चाहिये। ऐसा उपदेश इस मन्त्र–वाक्यसे सूर्यके माध्यमसे अपने अन्दर ग्रहण करना चाहिये।

परमात्माकी सृष्टिमें प्रत्येक पदार्थ हमें ज्ञान और प्रेरणा दे रहा है अतः हमें उनके कार्योंका निरीक्षण करनेका निरंतर प्रयत्न करना चाहिये और तदनुकूल व्यवहारको अपनेमें धारण करना चाहिये। इस कार्यके लिए जीवनमें कभी आलस्य आदिके कारण कर्तव्य-विमुख नहीं होना चाहिये। इसके लिए—

वैदिक–श्रमवाद

हमें कर्तव्यकी ओर निरन्तर प्रेरणा देनेके लिये वेद उपदेश दे रहा है—

पन्द्रहवां सूत्र-मन्त्र

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥
(यजु ४०।२)

इस जीवनमें कर्म करते हुए जीनेकी इच्छा करो। अक-र्मण्य तथा आलसी बनकर जीनेकी इच्छा भी मत करो। आराम या आलस्य कर्त्तव्यताके शत्रु हैं। इनका त्याग करना होगा। निरुद्यमी, आलसी व्यक्ति संसारमें कुछ नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्तियोंकी अकर्मण्यतासे समाजमें जिन दुष्प्रवृत्तियोंका जन्म हो जाता है, वे समाजके लिये महान् अनर्थकारी होती हैं।

अकर्मण्यतासे समाजमें दोष

अकर्मण्य-व्यक्ति आलस्य एवं प्रमादके वशीभूत होकर विलासमें लिप्त रहना चाहते हैं और उस विलासके लिये ऐश्वर्यका संग्रह करते हैं। फिर उस द्रव्यसे प्रजाके जीवनको खरीद कर अपने स्वार्थकी पूर्तिमें झोंकने लगते हैं। समाजको–

कुर्वन्नेवेह कर्माणिका–मन्त्र सतत जपना होगा और अकर्मण्य बनकर दूसरेके धनको छलसे हरण करनेकी वृत्तिसे बचना-बचाना होगा।

इसके लिये वेदने उपदेश दिया :—

सोलहवां सूत्र–मन्त्र

मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ (यजु. ४०।१)

समाजका कोई व्यक्ति किसीके धनका-किसीके स्वत्वका–किसीके अधिकारका अपहरणकर्ता या अपहरण करनेकी इच्छा-वाला भी न हो। दूसरेके धन या अधिकार पर लोभदृष्टि, उसके हरण करनेके उपाय एवं प्रयत्न समाजके शान्त मनको अशान्त कर देते है तथा उनकी वृत्तियोंको दूषित कर देते है। अतः – मागृधः कस्य स्विद्धनम् – यह वेदका महान् आदर्शघोष जनसमाजमें सदा गुंजायमान रहना चाहिये और समाजको इस ओर अग्रसर रखना चाहिये।

परमात्माका श्रमवाद

कठोर परिश्रमकी ओर समाजकी प्रवृत्ति बनानेसे समाजमें अनेक प्रकारकी कलाओंका विकास होता है। परमात्मा सबसे बडा परिश्रमी है अतः वह सबसे बडा तपस्वी है। उसके श्रमसे ही विश्वमें सर्व कलाकौशल विद्यमान है। इसके ही तपसे पृथिवीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, महान् ऐश्वर्य भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक रचनामें अनेक प्रकारके ऐश्वर्यके अनेक कोष बिछे हुए हैं। यदि हम अपने ज्ञान और श्रमसे इनको जान लें और उद्घाटित कर लें तो इस पृथिवी पर सुवर्ण, रजत, लोह, ताम्रादि विविध द्रव्योंके संचित कोश पर्वताकार प्राप्त हो जाते हैं।

प्रातःकालमें हरित घास पर जैसे ओसके बिन्दु मुक्ताकी छवि प्रकट करते हुए हमें आकर्षित करते हैं उसीके समान इस विशाल पृथिवी और समुद्रके अन्तस्तलमें मुक्तामणि, हीरा, पन्ना, नीलम आदि बिखरे हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

कहीं शक्ति और जीवनका कोश अन्नौषधि, फल तथा इनके विविध रसोंमें भोज्य रूपमें भरा पडा है और इन सबके साथ सर्वत्र नियम, ज्ञान और अपूर्व आनन्दका अथाह सागर भी इनमेंसे हिलोरे लेता हुआ हमें श्रम करके प्राप्त करनेकी प्रेरणा दे रहा है।

हम इसमेंसे एक कणमात्रको प्राप्त कर विद्वान् बन जाते हैं, धनवान् बन जाते हैं, शक्तिमान् बन जाते हैं और आनन्दी बन जाते हैं। संसारमें मनुष्य जो भी कहता है, जो भी जानता है, वह सब उसी महाश्रमीके श्रमसे निर्मित महान् कोषसे ही समुद्रसे बिन्दुवत् प्राप्त करता है।

इतने महान् ऐश्वर्योंकी रचना एवं क्रमपूर्वक संग्रहके लिये और उसकी कलापूर्ण रचनाके लिये परमात्माको कितना कठोर श्रम करना पडा होगा। सृष्टिकी रचना प्रारम्भ करनेके लिये उस परमात्माने श्रम किया–महान् श्रम किया, तप किया। जिन ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंने उसके तपको अनुभूत किया उनको कहना पडा–स तपोऽतप्यत–। उसी महान् श्रमीके तपसे यह अद्भुत रचना हमारे सामने अविचल दृष्टिगोचर हो रही है। ' जगन्मिथ्या ' – के मानने वालोंको भी यह जगत् चुनोती दे रहा है। उनका जीवन समाप्त हो गया–पर यह तपोमय सृष्टि अटल एवं ध्रुव रूपसे खडी हुई है।

श्रमको आवश्यकता परमात्माको भी पडती है अतः हमें जीवनमें श्रम या तपरहित न बननेकी प्रेरणा देनेमें लिये सर्वोच्च सत्ताके लिये भी वेदमें कहा :

सत्रहवां सूत्र–मन्त्र

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

इस परमात्माके अच्छी प्रकार तपसे ऋत और सत्य अर्थात् कार्यकारण – भावात्मक सृष्टिका निर्माण हुआ।

मानव भी श्रम करें

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता। (अथर्व. १२।५।१)

परब्रह्माने श्रमसे तपसे इस सृष्टिका सर्जन किया है और उसमें वित्त ऋते श्रिता–अर्थात् न्याय रूप सत्य धर्मके

आश्रित, वित्त, धनादि परमात्माने दिया। इसलिए हम जिस समाजका निर्माण करना चाहते हैं उसके सामुदायिक विकासके लिए श्रमकी प्रधानता रखनी चाहिए।

जब हमारा परमात्मा-सर्वोच्च सत्ता-ही श्रम करनेवाली है तो हम भी क्यों न परिश्रमी बनें ? हम अपने श्रमसे सबकी सामूहिक एवं व्यक्तिगत आवश्यकताओंकी पूर्ति करके यथेच्छ सुख प्राप्त कर सकते हैं। अतः समाजको उद्यमी, पुरुषार्थी, श्रमी बनानेके लिए वेद सन्देश देता है और वह श्रम सत्यके आधारपर हो, जिससे न्यायानुसार धनादिकी प्राप्तिसे समाज सुखी एवं समृद्ध हो सके।

इस प्रकार वैदिकसंस्कृति हमें उपदेश दे रही है कि वयं रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा संस्कृति-र्विश्ववारा (यजु० ७।१०) हम धन, ऐश्वर्य, अन्न, वस्त्र, सुख आदिके सबको देनेवाले बनें। केवलमात्र अपने लिए ही उसको बटोरनेवाले लोभी, स्वार्थी, पर-अपकारी न बनें। यही सबसे प्रथम, प्रधान एवं अग्रणी संस्कृति है जिसको कि समस्त विश्वको वरण करनी चाहिए। ऐसी उत्तम संस्कृतिको वेदने हमारे लिए सृष्टिके प्रारम्भसे ही प्रकृतिके द्वारा, पशु-पक्षियोंके द्वारा ऋग्वेदमें प्रकाशित की है और प्रदान की है। आज भी संसारके लिए यह सर्वश्रेष्ठ एवं ग्रहण करने योग्य है।

वेदोंमें साम्यवाद या समाजवादका सिद्धान्त बहुत ही उच्च कोटिका है। वैदिकसमाजवादकी सूक्ष्मदृष्टि सब प्राणियों, पक्षियों और कीट-पतंगोंमें उसी एक आत्माके दर्शन करती है। यह एकात्मकताका दर्शन ही वैदिकसमाजवादका मूलमंत्र है। आधुनिक साम्यवादकी तरह सबको समानस्तर पर ला पटकनेका ध्येय वैदिकसाम्यवादका नहीं है। पंडित पंडित ही रहेगा और मूर्ख मूर्ख। दोनोंकी योग्यता एक कैसे हो सकती है ? और जब दोनोंकी योग्यता एक नहीं हो सकती तो उनका रहन-सहन, आचरण-व्यवहार एक कैसे हो सकता है, लिहाजा आर्थिकस्तर भी समान किस तरह होगा ? इसलिए आधुनिक साम्यवादका सबका आर्थिक स्तर समान करनेका दावा एक मृगमरीचिका ही है। वैदिकसाम्यवाद इन मनुष्यगत तथा इतर प्राणीगत असमानताओंको कायम रखते हुए भी पारस्परिक प्रेमव्यवहार पर जोर देता है। सभीमें परमात्माका वास है। सभी उस अमृतके पुत्र होनेके कारण परस्पर भाई हैं। सबको परमात्मरूपकी दृष्टिसे देखो। सबको अपने समान समझो। यही उपदेश है वेदोंका और यही है वैदिकसमाजवादका मूलमंत्र।



लेखकों का परिचय

१ पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर— पद्मविभूषण, डी. लिट्., गीतालंकार, महामहोपाध्याय, साहित्यवाचस्पति। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान्, वेदसम्बन्धी अनेक ग्रन्थोंके कर्ता.

२ डॉ. मुंशीराम शर्मा – आचार्य, पीएच्. डी., डी. लिट्., अध्यक्ष, वैदिकानुसंधानसंस्था, कानपुर। पता– आर्यनगर, कानपुर।

३ डॉ अनन्त गणेश जावडेकर– पीएच्. डी., डी लिट् अध्यक्ष, दर्शनविभाग, म स. विश्वविद्यालय, बडौदा, पता– 'गणेशकृपा', १३ पटेल कॉलॉनी, बडौदा।

४ डॉ. हरिदत्त पालीवाल 'निर्भय'– एम. ए. पीएच्. , साहित्याचार्य– अध्यक्ष, संस्कृत परिषद्, पता– उपमन्युभवन, पो. कायमगज, जि फतेहपुर (उ प्र.)

५ श्री श्रीपाद रामचन्द्र टिकेकर– पत्रकार, पता– सारस्वत बैंक बिल्डिंग, निकद्वरी लेन, गिरगांव, बम्बई– ४

६ डॉ. भवानीलाल "भारतीय" एम्. ए., पीएच् डी. अध्यक्ष, हिन्दीविभाग, गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर, पता– १० दादाभाई नौरोजी क्वार्टर्स, नसीराबाद रोड, अजमेर।

७ डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर, एम्. ए., डी. लिट्., अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, पता— वागीश्वरी निकेतन, " अभ्यंकर नगर, नागपुर।

८ डॉ. रामचरण "महेन्द्र" एम्. ए; पीएच्. डी. चार्य, गवर्नमेंट कॉलेज, सुजानगढ।

९ डॉ रामजी उपाध्याय. डी. फिल्., डी लिट्. अध्यक्ष संस्कृतविभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर।

१० पं. धर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड, पता– आनन्द कुटीर, ज्वालापुर जि. सहारनपुर, (उ. प्र.)

११ स्वामी भगवदाचार्य महामण्डलेश्वर, राजनगर सोसायटी, अहमदाबाद.

१२ डॉ. मो दि. पडारकर एम. ए, पीएच् डी., आचार्य सोनोपंत दाण्डेकर कॉलेज, पालघर।

१३ डॉ. यतीन्द्रकुमारसेनगुप्त एम्. ए. पीएच्. डी प्रवक्ता, संस्कृतविभाग, बर्दवान विश्वविद्यालय, बर्दवान।

१४ डॉ ओंकारनाथ अग्रवाल एम्. ए, पीएच् डी. आबैदुल्लागंज भोपाल (म प्र)

१५ प्रो. नित्यानन्द पटेल. अध्यक्ष– हिन्दीविभाग, गार्डा कॉलेज, नवसारी, जि. बलसार गुजरात)

१६ प्रो. रवीन्द्र अग्निहोत्री एम्. ए, व्याख्याता, वनस्थली विद्यापीठ (राज.)

१७ श्री वेदव्रत एम् ए.– व्याख्याता, गांधी कॉलेज नवाबगंज, जि गोंडा (उ. प्र.)

१८ श्री रश्मिकान्त व्यास– "भारत भारती", उज्जैन (म. प्र.)

१९ पं वीरसेन वेदश्रमी यज्ञाचार्य— "वेदसदन" महारानी रोड, इन्दौर।

२० श्री सोमनाथ एम्. ए., शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय मेघनगर, जि. झाबुआ।

Regd. No. G. 71